दयानंद-वचनामृत

लेखक

स्वामी श्री सत्यानन्दजी

श्रीदयानन्द-वचनामृत ।

लेखक—

स्वामी श्रीसत्यानन्दजी महाराज ।

प्रकाशक—

साहित्य-सदन,

मोहनलाल रोड, लाहौर ।

फाल्गुन १९७६ वि.

प्रथमावृत्ति

मूल्य ॥=)

ओ३म् ।

प्रारम्भिक वचन ।

मेरा चिरकाल से यह विचार था कि महर्षि दयानन्द के एक एक विषय के वचनों का संग्रह कर के श्रीमद्भक्तों को भेंट किया जाय, जिस से, अलग अलग विषयों पर प्रशंसित स्वामी जी के उपदेशों का लाभ उठाया जा सके। यह "श्रीदयानन्द-वचनामृत" नामक पुस्तक उन्हीं विचारों का परिणत फल है। सत्यार्थ-प्रकाश, ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका, संस्कार-विधि, आर्य्याभिविनय, आर्य्योद्देश-रत्नमाला, व्यवहारभानु, गोकरुणानिधि, और पूने के व्याख्यान आदि ऋषि-प्रणीत पुस्तकों से और श्रीमद्दयानन्द-प्रकाश से महाराज के वचन-विन्दु संग्रह कर के यह अमृत प्रस्तुत किया गया है। मुझे पूर्ण आशा है कि महाराज के प्रेमी भक्तों को ये अमृत-विन्दु बड़े मीठे, अति स्वादु और अतिशय सुखदायक प्रतीत होंगे।

महाराज के इस वचन-संग्रह में मैंने कहीं तो उनके अपने ही शब्द ज्यों के त्यों रख दिये हैं, कहीं किसी वाक्य को सरल बनाने के लिये अपनी ओर से यदि, तथा, ही, आदि उपसर्ग जोड़ दिये हैं, और कहीं कहीं किसी जटिल पंक्ति का स्वतंत्र अनुवाद भी कर दिया है। इस प्रकार यह 'वचनामृत' श्रीमहाराज के वचनों का एक प्रकार का अनुवाद ही समझा जाना चाहिए। परन्तु इस में भावों की रक्षा पर पूरा पूरा ध्यान दिया गया है।

सत्यानन्द ।

आर्यसमाज के पूज्य प्रवर्त्तक जगद्गुरु दयानन्द ।

श्रीदयानन्द-वचनामृत ।

प्रथम विन्दु ।

त्याग ।
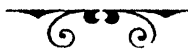
श्रीमद्दयानन्द त्याग और वैराग्य के अवतार-स्वरूप थे। जिस परम वैराग्य से, जिस गहरी लग्न से, और जिस उग्र भाव से उन्होंने अपने सम्पत्तिशाली पितृगृह का परित्याग किया, वह उनके त्याग-भाव का परिचायक परम प्रमाण और उनकी विशुद्ध वैराग्य-विशेषता का सूचक है।

जिन दिनों श्रीदयानन्द जिज्ञासु-रूप से हिमालय की यात्रा कर रहे थे, एक दिन वे ओखी मठ में जा टिके। उनके बुद्धि-विकास, उनके युक्ति-बल, उनकी तुरन्त उत्तर-प्रत्युत्तर देने की शक्ति और उनकी सरल, पर माधुरी मूर्त्ति पर उस मठ का महन्त मुग्ध हो गया। दयानन्द को चेला बनाने की लालसा से अपनी गुरुगद्दी के गुणों का बखान करते हुए वह कहने लगा—"दयानन्द जी! यदि आप हमारे शिष्य बन जायँ तो आप हमारी सारी सम्पत्ति के स्वामी हो जायँगे। इतना धन पा कर स्वतंत्रता से मन-माना

सुख भोगेंगे, हमारे लाखों शिष्यों और सेवकों में खूब ही पूजा पावेंगे।"

महात्यागी परमहँसजी इस महन्त के मायामय महाजाल में भला कब फँसनेवाले थे। वे झुँझला कर बोले,—"महन्तजी, यदि मेरे मन में माया की भूख होती, तो मैं धन-धान्य-पूर्ण अपने पितृ-प्रासाद का क्यों परित्याग करता? वहाँ तो आपके चढ़ावे में चढ़े, पूजा पाठ से आये, यन्त्र-मन्त्र से कमाये, और नाना लीलाओं से लिये हुए रुपयों से कहीं अधिक ऐश्वर्य था। महाशय, जिस वस्तु की खोज में मैंने घर-बार और सांसारिक सुखों को सदा के लिये जलाञ्जलि दे दी है, मैं देखता हूं, आप लोगों को उसका कुछ भी ज्ञान नहीं। इस कारण आपका चेला बनना तो दूर रहा, मेरा तो यहाँ रहना भी असम्भव है।"

महन्त महाशय उस मुनि के मुख से धन के प्रति धिक्कार-ध्वनि निकलती सुन आश्चर्यचकित होकर पूछने लगे—"फिर वह वस्तु क्या है जिसकी खोज में आपने यह भीषण महाव्रत धारण किया है?"

महाराज ने कहा—"वह वस्तु यथार्थ योग और आत्मपद की प्राप्ति है।" मठाधीश ने उनको धुन की, उनकी धारणा की, उनकी तपश्चर्य्या की भूरि भूरि प्रशंसा करते हुए आग्रह किया कि और नहीं तो कुछ दिन तक तो यहाँ अवश्य निवास कीजिये। परन्तु वायु के सदृश अप्रतिबन्ध विहारी वैरागी ने केवल एक ही रात वहाँ वास किया।

एक बार राणा श्रीसज्जनसिंहजी ने महादेव के मन्दिर की गद्दी श्रीमहाराज के चरणों में अर्पण करते हुए कहा कि इस मन्दिर के साथ बड़ी भारी जागीर लगी हुई है और राज्य भी इसी मन्दिर को अर्पित है। इस मन्दिर के महन्त बनने पर आप राजगुरु तो हो ही जायँगे, परन्तु साथ ही आपको पुस्तक-प्रकाशन तथा धर्म्म-प्रचार के कार्यों में भी बड़ी सुगमता हो जायगी। फिर आपको किसी से सहायता लेने की आवश्यकता न रहेगी। इस पर स्वामी जी आवेश-पूर्वक बोले—राणाजी, आप मेरे सम्मुख प्रलोभन-पाश फैला कर मुझे परमात्मदेव से पराङ्मुख करना चाहते हैं। यह रजोगुणी लोभ-लालच मुझे अनन्त ऐश्वर्यवान ईश्वर से विमुख नहीं कर सकता। ऐसे वाक्य कहने का साहस फिर कभी न कीजियेगा।

अवधूत-वृत्ति में गङ्गा-तीर पर विचरण के दिनों में श्रीदयानन्द केवल कौपीन ही रखते थे। वे नगर में नहीं ठहरते थे। वनों में, वृक्षों के नीचे, गङ्गाजी की रेत पर ही रातें काटा करते थे। एकान्त कुटिया में कहीं कदाचित् ही विश्राम लेते। अति शीत-पात पर भी उनकी यह दिगम्बर-वृत्ति बराबर बनी रहती थी। उनकी इस अवस्त्र अवस्था की तपस्या जो देखता, दाँतों उँगली दबाता और उनमें अलौकिक कर्म की कल्पना करता।

लोग थोड़ा सा तप-जप करने पर भी अपार अहङ्कार करने लग जाते हैं, दूसरों को तुच्छातितुच्छ समझने लगते हैं। पर पूज्य परमहंसजी में मद-मान की मात्रा लवलेश मात्र भी नहीं थी।

एक दिन एक सज्जन ने उन से पूछा कि इतना तीव्र जाड़ा पड़ने पर भी आपकी काया को कँपकँपी कम्पायमान नहीं कर रही है, इसका कारण क्या है ? महाराज ने मुस्करा कर उत्तर दिया— "कारण है नित्य नग्न रहने का अभ्यास। आप भी मुख-मण्डल को सदा नग्न रखते हैं, इसलिये आप के इस अंग को शीत नहीं सताता। मैं सारा शरीर नंगा रखता हूँ, इसलिये मेरे सारे तन मे शीत को सहने का सामर्थ्य हो गया है।"

तपस्या के दिनों में श्रीदयानन्द अन्नार्थ भी नगर मे क्वचित् ही जाते थे। उनका आसन दिन रात प्रायः वृक्षमूल और गङ्गा-कूल ही हुआ करता था। ऐसे निर्जन स्थानों में जिस समय और जैसी भी रूखी-सूखी चपाती कोई दे जाता, वे उसी पर निर्वाह करते। कई बार तो आप अनेक दिनों तक निराहार ही पड़े रहते, परन्तु माँगने न जाते। उन्होंने रसना के रस को ऐसा वश में किया था कि यदि कोई जली-भुनी रोटी पहले ले आता तो प्रसन्नता-पूर्वक उसी को खा लेते, और पीछे से आये विविध व्यञ्जनयुक्त स्वादु भोजन को स्पर्श तक न करते। चासी के वैरागी बाबा को उनका वहाँ रहना नहीं भाता था। उसे डर था कि आस पास के राजपूत इनके अनुयायी हो गये तो मेरी आजीविका जड़ मूल से जाती रहेगी। भक्तजनों का भोजन आने के पहले ही वह बाबा प्रतिदिन जले भुने, अधकच्चे दो तीन मोटे मोटे रोट उनके सामने रख देता और वे वीतरागी उसी को खाकर तृप्त हो जाते; और पीछे आये उत्तमोत्तम पदार्थों की ओर दृष्टिपात

तक न करते। उस बाबा ने सोचा कि ये मेरे अधपक्के टिक्कड़ों को बड़ी प्रसन्नता से खा जाते हैं, किसी के आगे नाम तक नहीं लेते। ये तो कोई असाधारण सन्त हैं। विरोध-बुद्धि छोड़कर इन की सेवा से यह जन्म सफल करना चाहिए। तब से वह मनसा, वाचा, कर्मणा उनका आज्ञाकारी सेवक बन गया।

दूसरा बिन्दु ।

ईश्वर-स्तुति और प्रार्थना

परमात्म-प्रेम को जाग्रत करने के लिये, सन्तों में, स्तुति और प्रार्थना का बड़ा प्रभाव माना जाता है। आत्मिक आकाश में उड़ने के लिये मन-पंछी के स्तुति और प्रार्थना दो प्रबल पंख हैं। इनके बिना दूसरे सारे साधन नीरस रहते हैं, आध्यात्मिक विकास मन्द पड़ जाता है।

परमहंस श्रीदयानन्द जब स्तुति-प्रार्थना के मन्त्र उच्चारण करते थे, तब प्रेम-रस का एक सागर सा उमड़ पड़ा करता था। उनके शब्द सजीव होते थे। वाक्यों में भाव ओत-प्रोत रहता था। उनका एक एक वचन श्रोताओं के अन्तःकरण को स्पर्श करता था। उस समय उस अपूर्व भक्ति-रस के प्रवाह में लोग ऐसे निमग्न हो जाते थे कि उनको देश-काल तक का ज्ञान न रहता था। उन्हें एक प्रकार की लीनता का अनुभव होने लगता था। उपदेश के आरम्भ में श्रीमहाराज जब 'ओम' नाद गुँजाया करते, तब वह भी एक मनोमोहन मंत्र बन जाया करता था। श्रोताओं के चित्त तुरन्त एकाग्र हो जाया करते थे।

उन्होंने अपनी जीवन-यात्रा समाप्त करते समय, ईश्वर की लीला का जो महत्व वर्णन किया है, वह उनकी प्रार्थना का, उन

की प्रभु-परायणता का और उनके परमात्म-प्रेम का समुज्ज्वल और ज्वलन्त प्रमाण है। नीचे उद्धृत प्रार्थनाएँ परमहंसजी के भावों का पूर्ण रूप से प्रकाश करती हैं—

"हे प्राणपते, प्राण-प्रिय, प्राणाधार, प्राण-जीवन, आपके बिना मेरा सहायक (दूसरा) कोई भी नहीं है। मेरे ईश्वर, मैं अत्यन्त दीनता से यही वर माँगता हूँ कि मैं आप और आप की आज्ञा से भिन्न पदार्थ में कभी प्रीति न करूँ।"

"हे परमेश्वर ! सच्चिदानन्द-स्वरूप, नित्य शुद्ध-बुद्ध-मुक्तस्वभाव, हे अज, निरञ्जन, निर्विकार, सर्वान्तर्यामिन, सर्वाधार जगत्पते, सकल-जगत्-उत्पादक, हे अनादि विश्वम्भर, सर्वव्यापिन, हे करुणामृतवारिधे... आप सब को देखनेवाले हो, अविनाशी हो, आश्चर्य-गुण, आश्चर्य-शक्ति, आश्चर्य्य-स्वरूप और सर्वोत्तम हो। न कोई आप के समान है और न कोई आप से महान है।"

"हे जगदीश ! दिव्य गुणों-सहित हमारे हृदय में प्रकट हूजिये। हे प्राण-प्रिय ! अपने भक्तों को परमानन्द प्रदान करना आप का सत्यव्रत है। आप से पालित हम लोग सदैव उत्तम कामों में उन्नति करें, आनन्द को प्राप्त होवें।"

"हे सर्वज्ञ ! आप ही स्तुति करने योग्य हो। सत्पुरुषों के प्रतिपालक आप ही हो। हम को सुन्दर सुख देनेवाले आप ही हो। हम लोग आपको सर्वोपरि विराजमान मानते हैं। सो अपनी अपार कृपा से हम में आवेश कीजिये, जिस से हम अविद्यान्धकार से निकल कर विद्या-सूर्य को प्राप्त हों और परमानन्द को उपलब्ध

करें। सुखप्रद ईश्वर ! आप कृपया हमारे हृदय-देश में ऐसे रमण कीजिये जैसे आकाश में सूर्य की किरण रमण करती है, ज्ञान में विद्वानों का मन रमण करता है और निज निवास-मन्दिर में मनुष्य का मन रमण करता है।"

"परमात्मन! आप देवों के भी देव हो, देवों को परमानंद देनेवाले हो, सब के सुखकारी सखा हो, अतीव शोभाश्रम और सुशोभा के दाता हो। आप अपनी शक्ति से, सब जनों के हृदय-मण्डल में नित्य सत्योपदेश कर रहे हो। आप के अनुग्रह से हम परस्पर प्रेम-प्रीति-युक्त रहें; सदैव आप ही की स्तुति, प्रार्थना और उपासना करें; आप ही को पिता, माता, बन्धु, राजा मानें; स्वामी और सहायक समझें। आप ही को सुखदाता, सुहृद् और परम गुरु जानें। आप के तुल्य तथा आप से अधिक किसी को कभी भी स्वीकार न करें। क्षण-मात्र के लिये भी आप को न भूलें। हे करुणामय ! जैसे माता-पिता अपनी सन्तानों का पालन करते हैं, वैसे ही आप हमारा पालन कीजिये।"

"हे न्याय-प्रिय ! हम को भी न्यायकारी बनाइये। हे धर्म्माधीश! हम को भी धर्म्म में स्थिर कीजिये। हे सर्वमित्र ! सब प्राणी मुझे मित्र-दृष्टि से देखें, मेरे सब मित्र बन जायँ। मुझ से कोई किंचिन्मात्र भी वैर-विरोध न करे। हे परमात्मन्! आप की कृपा से मैं भी सचराचर जगत् को निर्वैरता से अपने प्राण-समान प्यारा समझूँ। हम सब प्राणधारी परस्पर निष्पक्ष, प्रेम-प्रीतियुक्त बर्ताव करें, किसी के साथ अन्याय-युक्त व्यवहार कदापि न करें। आप के

अनुग्रह से हम सब एक दूसरे के प्रेमी, रक्षक और सहायक हों, (हम) पुरुषार्थी बनें। एक दूसरे का दुःख न देख सकें; अपने देश-वासियों को परस्पर प्रेम-बद्ध बनावें; पाखण्ड-रहित निर्वैर करें।"

"जो सब पदार्थों से सर्वोपरि समर्थ, सच्चिदानन्द स्वरूप, नित्य-शुद्ध, नित्य-बुद्ध, नित्यमुक्त स्वभाववान् है; जो कृपा-सागर, पूर्ण न्यायशील, अजर, अमर, निराकार और घट घट का साक्षी है; सब का धर्त्ता, पिता, उत्पादक, पोषणकर्त्ता, सकल ऐश्वर्य-शाली, शुद्ध-स्वरूप और प्राप्ति की कामना करने योग्य है, उस पर-मात्म देव के चेतन स्वरूप को हम धारण करें। वह परमेश्वर हमारे आत्मा और बुद्धियों का अन्तर्यामि-स्वरूप, हम को दुष्टाचार और अधर्म्म-युक्त मार्ग से हटा कर श्रेष्ठाचार और सन्मार्ग पर चलावे।"

तीसरा बिन्दु ।

भक्ति ।

इस भवसागर से पार पाने के लिये भगवद्भक्ति के समान दूसरी नौका नहीं है। भक्ति-धर्म्म भक्त के जीवन को कोमल, सुन्दर और रसमय बनाता है, उसमें करुणा, कृपा तथा परोपकार के भाव भरता है, उसे नम्र, सुशील और विनीत बनाता है, दीन दरिद्रों के दुःख दूर करने के लिये सेवार्थ समुद्यत करता है, यहाँ तक कि पीड़ित प्राणी के परित्राणार्थ प्यारे प्राण तक का परित्याग कर देने को प्रस्तुत कर देता है। आज तक संसार में भक्तिमय धर्म्म ही से सारे सुधार हुए हैं। हों भी क्यों न, जब यह परमात्म प्रेम की नींव पर स्थिर है, क्रियात्मक है, विश्वास है, और आशावाद की जड़ है।

भक्ति-धर्म्म में परोपकारादि सार्वजनिक कार्य भी सम्मिलित हैं; परन्तु यह परमात्मा के विश्वास का, उसके स्मरण का, चिन्तन का और आराधन का मुख्य स्थान है। महर्षि दयानन्द भक्ति-धर्म्म के सारे अङ्गों का पालन और उपदेश करते थे। उनका ईश्वर-विश्वास इतना बढ़ा हुआ था कि परमात्मा की उपस्थिति वे सदा अपने अंग संग समझते थे। ध्रुव और प्रह्लाद की तरह वे प्रथमावस्था ही में परमेश्वर की प्राप्ति के लिये सर्वत्यागी हो गये थे। किन्तु

कैवल्य-पद पर पहुँच कर वे जड़भरत और राजा जनक की भाँति रात-दिन ब्राह्मी स्थिति में रहा करते थे। इसी कारण वे इतने निर्भय, इतने निर्लेप और इतने निर्द्वन्द्व थे।

एक बार वे फ़र्रुखाबाद से किसी समीप के नगर में जानेवाले थे। उनके प्रेमी सेठ दुर्गाप्रसादजी ने गाड़ी के आगे पीछे दो दो सशस्त्र सिपाही खड़े कर दिये। महाराज ने मुस्करा कर कहा कि सेठ जी, बिना अपराध इतना कड़ा पहरा क्यों लगाया गया है? सेठजी ने नम्र निवेदन किया,—"गुरुदेव, यहाँ के बहुतेरे उद्दण्ड और दुर्दम्य दुष्टजन आप की परोपकारमयी कारुणिक काया को कष्टक्लेश देने के लिये अनुकूल अवसर ताकते रहते हैं। ऐसे महाधम मनुष्यों का मलिन मनोरथ पूरा न हो सके, इस कारण ये आप के अंगरक्षक खड़े किये गये हैं।" स्वामीजी ने कहा "सेठ जी, आप लोगों में तो मैं थोड़े ही वर्षों से आने जाने लगा हूँ। अब आप लोग मेरे संरक्षण की चिन्ता करते हैं। पर पहले जब मैं एकाकी अवधूत-वृत्ति में रहा करता था, उस समय भी तो मेरी मत-मतान्तरों की निःसङ्कोच समालोचना सुन कर सहस्रों जन चिढ़ जाया करते और मुझे मार मिटाने का प्रत्येक उपाय उपयोग में लाने के लिये तत्पर रहते थे। बताइये, तब मेरी रक्षा कौन करता था?" सेठ जी ने झुक कर कहा; "महाराज, उस समय आप के योग-क्षेम का विधान करनेवाले सब के पालक-पोषक परमात्मदेव ही थे।" स्वामीजी ने कहा,—"महाशय, उस प्रभु का रक्षामय हाथ अब भी मेरे साथ है। मैं उसी भुवन-भावन-भगवान् के भरोसे पर निर्भय

विचरता हूँ। आप अपने नौकरों को गाड़ी से उतार लीजिये।"

एक समय का वर्णन है कि काशीपुरी के बाहर आनन्दोद्यान में दयानन्दजी विराजमान थे। उनके समीप उनका शिष्य बलदेव हाँपता हुआ आकर बोला, "प्रभो, आज हमारे नगर में हलचल मची हुई है। सारे साम्प्रदायिक सन्त, महन्त और पण्डित बड़ी सज्जा से चढ़े चले आ रहे हैं। यहाँ आकर उनकी शिष्य-सेना जो भी अवज्ञा करे, सो थोड़ी है। काशी के गुण्डों से तो कोई भी बात असम्भव नहीं है। यदि फर्रुखाबाद होता तो ऐसे संकट के समय में आपके समीप दो चार सेवक आ बैठते और श्रीचरणों की रक्षा करते। पर यहाँ तो श्रीसन्त एकाकी हैं।" महाराज ने गम्भीरता से कहा, "बलदेव, घबराओ मत। एक मैं हूँ और एक परम पिता परमात्मा हैं। और है कौन जिससे काँपें और भयभीत हों? उनको आने दो। देखना, होता क्या है।"

स्वामीजी को दृढ़ विश्वास था कि यत्नशीलजन को, शुभ कार्य में, ईश्वर सहायता देता है। इस विश्वास को वे यों प्रकट करते हैं:—"ईश्वर ने मनुष्यों में जितना सामर्थ्य रक्खा है, उतना पुरुषार्थ मनुष्य अवश्य करे। उसके उपरान्त ईश्वर की सहायता की कामना करना उचित है।" "सब मनुष्य ईश्वर की सहायता की कामना करें, क्योंकि उसकी सहायता के बिना धर्म्म का पूर्ण ज्ञान और उसका पूरा अनुष्ठान कभी नहीं हो सकता।"

स्वामी दयानन्दजी भी अन्य भगवद्भक्तों के सदृश कृपावादी थे। "यमे वैष वृणुते तेन लभ्य:" "जिस जन पर जगदीश्वर कृपा

करते हैं, वही उनको पाता है" इस वाक्य पर उन की ध्रुव-धारणा थी। भक्ति-योग के इस भाग को इन भावों में उन्होंने कहा है— "परमेश्वर हमारे माता-पिता के समान है। हम सब उसकी प्रजा हैं। हम पर वह नित्य कृपा-दृष्टि रखता है। परम कृपालु प्रभु ने प्रजा के सुखार्थ कन्द-मूल, फल-फूलादि छोटे छोटे पदार्थ भी रचे हैं।" "जो मनुष्य परम दयामय पिता की आज्ञा में रहता है, वह सर्वानन्द का सदैव भोग करता है। जो जन भगवान् के भक्त हैं, वे सदा सुखी रहते हैं। सब के पिता और परम गुरु परमात्मा ने कृपापूर्वक हम को सब व्यवहारों और विद्यादि पदार्थों का उपदेश किया है जिस से हम व्यवहार-ज्ञान और परमार्थ-ज्ञान पा कर परम सुखी हों।"

चाँदापुर में उन्होंने जगत्कर्त्ता की कृपा का वर्णन इन शब्दों में किया था—"प्रार्थना का फल यह है कि जब कोई जन अपने सच्चे मन से, अपने आत्मा से, अपने प्राण से और सारे सामर्थ्य से परमेश्वर का भजन करता है, तब वह कृपामय परमात्मा उस को अपने आनन्द में निमग्न कर देता है। जैसे छोटा बालक घर की छत पर अथवा नीचे से अपने माता-पिता के पास जाना चाहता है, तो उसके माँ-बाप, इस भय से कि हमारे प्रिय पुत्र को इधर उधर गिर पड़ने से कष्ट न हो, अपने सहस्रों कामों को छोड़, दौड़ कर उसे गोद में उठा लेते हैं, वैसे ही परम कृपानिधि परमात्मा की ओर यदि कोई सच्चे आत्म-भाव से चलता है, तब वह भी अपने अनन्त शक्तिमय हाथों से उस जीव को उठा कर सदा के लिये अपनी गोद

में रख लेता है। फिर उस को किसी प्रकार का कष्ट-क्लेश नहीं होने देता, और वह जीव सदा आनन्द ही में रहता है। परमात्मा, माता-पिता की भाँति, अपने भक्तों को सदा सुख-सम्पन्न करने ही की कृपा करता है।"

भक्ति-मार्ग में नाम-स्मरण—जप—का बड़ा महत्व माना है। पतञ्जलि मुनि ने भी 'तज्जपस्तदर्थ भावनम" प्रणव का जप और उसके अर्थों का चिन्तन बता कर नाम-स्मरण की महत्ता पर मुहर लगा दी है। मनु महाराज ने भी जप-आराधन को आत्म-कल्याण का एक उत्तम साधन वर्णन किया है, पाप-ताप से परित्राण पाने का एक पवित्र उपाय बताया है। सब समयों के सन्तों की सम्मति में आत्मिक विकास के साधनों में सहजाभ्यास (स्मरण) एक सीधा, सरल, सुलभ और सुगम साधन है।

श्रीस्वामीजी ने उपदेश किया है—"उसी नाम का जप अर्थात् स्मरण और उसी का अर्थ-विचार सदा करना चाहिए।" "जो पुरुष संन्यास लेना चाहे, वह तीन दिन तक दुग्धपान-सहित उपवास करे, भूमि पर सोवे, प्राणायाम, ध्यान तथा एकान्त देश में ओंकार का जप करता रहे।" "जो जानने की इच्छा से गौण संन्यास ले, वह भी विद्या का अभ्यास, सत्पुरुषों का संग, योगाभ्यास, ओंकार का जप और उसके अर्थ—परमेश्वर का विचार—भी किया करे।"

स्वामी विरजानन्दजी ने बहुत काल तक गङ्गा में खड़े हो कर गायत्री का जप किया था। महाराज ने बदरीनारायण में रह कर

स्वयं भी इस इष्ट मंत्र का अनुष्ठान किया था। वे यज्ञोपवीत धारण करनेवालों से पहले गायत्री का पुरश्चरण कराया करते थे।

गङ्गाराम नाम के एक सज्जन को उत्तर देते हुए महाराज ने कहा था—"काम-वासना जीतने का यह विधान है कि एकान्त स्थान में रहे और नृत्यादि कभी न देखे। अनुचित रूप का देखना, अनुचित शब्द का सुनना और अनुचित वस्तुओं का स्मरण करना परित्याग कर दे। नियम-पूर्वक जीवन व्यतीत करे। मनुष्य जितना वासना को तृप्ति का यत्न करेगा, वह शान्त न हो कर उतनी ही अधिक बढ़ती चली जायगी। इसलिये विषय-वासना का चित्त में चिन्तन भी न करे। जितेन्द्रिय बनने के अभिलाषी को रात दिन प्रणव का जप करना चाहिए। रात को यदि जप करते हुए आलस्य बहुत बढ़ जाय तो दो घंटा गाढ़ निद्रा लेकर उठ बैठे और पूर्ववत प्रणव-पवित्र का जप करना आरम्भ कर दे।

चौथा बिन्दु ।

उपासना ।

परमहंस दयानन्द उपासना-काण्ड के पूरे पालन करनेवाले थे। उनकी ध्यानावस्थित मूर्त्ति को देख कर भक्तजन प्रेम-भाव से गद्-गद हो जाया करते थे। उनको वन-स्थानों में, निर्जन प्रदेशों में, एकान्त शान्त कुटियों में, वृक्षों के मूल में, स्वच्छ सुन्दर शिलाओं पर, नदियों के तट और भागीरथी के विमल, शुद्ध बालू पर अचल समाधिस्थ देख कर प्रेमी जन श्रद्धामय हो जाते थे। श्रीसहजानंद ने महाराज को उदयपुर के उद्यान में जब पहले पहल उपासना के परम पद पर पहुँचे हुए देखा, तब उनके हृदय-देश मे श्रद्धा-भक्ति का स्रोत खुल गया। उसी समय से वे उनके अनन्य जन बन गये। सहजानन्द जी ने एक बार अपने गुरुदेव को चौबीस घंटों की लम्बी समाधि में भी निमग्न, प्रशान्त, अकम्प और तूर्या-अवस्था-प्राप्त देखा था। उनकी ध्यानधारणा के वर्णनो से उनका जीवन-चरित भरा पड़ा है।

उपासना के विषय में श्रीमुख-वचन ये हैं—"जो मनुष्य सच्चे प्रेम से, भक्ति-भाव से परमेश्वर की उपासना करेंगे, उन उपासकों को परम कृपामय, अन्तर्यामी परमेश्वर, मोक्ष-सुख-सम्पन्न कर सदा के लिये आनन्दी कर देगा।" "इस में सन्देह नहीं कि जो जन अपनी सब वस्तुएँ परमेश्वर के लिये समर्पित कर देता है, उस

को परम कारुणिक परमात्मा सम्पूर्ण सुख प्रदान करता है। जो मनुष्य पूजने योग्य प्रभु का अपने हृदय-रूप आकाश में, भली भाँति, प्रेम, भक्ति और सत्याचरण द्वारा पूजन करता है, वही उत्तम मनुष्य है।"

धारणा का वर्णन करते हुए कहा है—"मन को निश्चल कर के उसको नाभि, हृदय, मस्तक और जीभ के अग्र भाग आदि देशों में स्थिर कर ओंकार का चिन्तन करना धारणा है।" धारणा का फल यह बताया है—"परमेश्वर के स्वरूप में मन और आत्मा की धारणा होने से व्यावहारिक और पारमार्थिक विवेक बराबर बढ़ता रहता है। ईश्वर में विशेष भक्ति होने से मन का समाधान होता है और तब मनुष्य समाधि-योग को शीघ्र प्राप्त कर लेता है।"

महाराज का ध्यान-सम्बन्धी उपदेश इस प्रकार है—"एकान्त स्थान में आसन लगा कर अपने मन को शुद्ध और आत्मा को स्थिर करे। अपनी इन्द्रियों और मन को सच्चिदानन्द स्वरूप परब्रह्म में निमग्न कर सम्यक् प्रकार से चिन्तन करे। परमात्मा ही में निज आत्मा को जोड़े। उसी परमेश्वर की स्तुति, प्रार्थना और उपासना बार बार कर के आत्मा को भली भाँति लवलीन बनावे।" ऐसी विधि से उपासना-आराधना करे—"जिस से उपासक के मन को एकाग्रता, प्रसन्नता और यथार्थ ज्ञान उपलब्ध हो। उसके हृदय में परमात्मा का प्रकाश, प्रेम और भक्ति आदि गुण बढ़ते चले जायँ।"

"प्राणायाम-पूर्वक उपासना करने से, आत्मा के ज्ञान को आवृत्त करनेवाला अज्ञान नित्य प्रति नष्ट होने लगता है और

आत्म-ज्ञान का प्रकाश धीरे धीरे बढ़ता चला जाता है। अपने आत्मा में जो आनन्द-स्वरूप अन्तर्यामी परमेश्वर विद्यमान है, उसके स्वरूप में निमग्नता लाभ करनी चाहिए।" विमल गम्भीर नीर में नहानेवाला जन "जैसे बार बार गहरी डुबकी लगा कर ऊपर आता और नीचे जाता है, वैसे ही परमेश्वर में अपनी आत्मा को बार बार निमग्न करना अत्यन्त उचित है। ध्यान और आश्रय के योग्य, अन्तर्यामी, व्यापक परमेश्वर के प्रकाशमय, आनन्दमय स्वरूप में सुविमल विचार और परम प्रेम-भक्ति से उपासक को ऐसे प्रवेश करना चाहिए जैसे सागर में नदियाँ प्रवेश करती हैं। ध्यान-काल में, ध्याता को अपने ध्येय, परमात्मा के अतिरिक्त दूसरी किसी भी वस्तु का स्मरण-चिन्तन करना उचित नहीं है।"

नाड़ियों में ध्यान—"गङ्गा आदि नाम इडा, पिङ्गला, सुषुम्ना, कूर्म और जठराग्नि की नाड़ियों के हैं। इनमें ध्यान करने से—अभ्यास करने से—उपासक के सारे दुःख दूर हो जाते हैं। उपासना-धारणा नाड़ियां द्वारा ही करना पड़ता है। इड़ा और पिङ्गला ये दोनों नाड़ियाँ जहाँ मिलती हैं, उस संगम-स्थान का नाम सुषुम्ना है। उस संगम में स्नान करने से—योगाभ्यास करने से—उपासक जन शुद्ध हो जाते हैं। तदनन्तर परम पवित्र रूप परमात्मदेव को पा कर सदा आनन्द में रहते हैं।"

संकेत रूप से अनाहत नाद का निरूपण—"मुख और जिह्वा के व्यापार के बिना ही, मन में विविध व्यवहारों का विचार और शब्दोच्चारण होता रहता है। कानों को उँगलियों से बन्द कर के सुनो

कि बिना मुख, जीभ, तालू आदि अंग हिलाये कैसे कैसे शब्द भीतर हो रहे हैं।" परमात्मा के ध्यान में निमग्न रहनेवाले उपासक की सिद्ध-अवस्था का श्री स्वामी जी ने इस प्रकार वर्णन किया है—"जैसे प्रचण्ड अग्नि-कुण्ड में उत्तप्त किया लोहा भी लाल-अग्नि रूप—हो जाता है, वैसे ही जिस अवस्था में उपासक अपनी देहादि के अध्यास को भूल जाता है, और परमात्मा के ज्ञान से जगमगा उठता है और उसके प्रकाश से—स्वरूप से, आनन्द से, ज्ञान से—अपनी आत्मा को परिपूर्ण कर लेता है, उस शान्त अवस्था को समाधि कहते हैं।"

ध्यान और समाधि में क्या भेद है, इसको भगवान् दयानन्द ने यों दर्शाया है—"ध्यान और समाधि में केवल इतना ही भेद है कि ध्यान में तो ध्याता—ध्यान करनेवाला—ध्यान, अर्थात् जिस मन से ध्यान किया जाता है, और ध्येय, अर्थात् जिस वस्तु का वह ध्यान करता है, ये तीनों बने रहते हैं। परन्तु समाधि में तो आत्मा केवल परमात्मा ही के आनन्द-स्वरूप और ज्ञान में निमग्न हो जाता है। वहाँ ध्याता, ध्यान और ध्येय का भेद-भाव नहीं रहता।"

प्रशंसित श्री परमहंसजी ने घर-बारी लोगों को उपासना के जिस प्रकारका उपदेश किया है, वह सुगम, सरल और आदरणीय है। वे कहते हैं—"स्त्री-पुरुषों को सदा रात्रि के दस बजे सोना चाहिए। वे सवेरे चार बजे, ब्राह्म मुहूर्त्त में उठ बैठें। सब से पहले ईश्वर का चिन्तन कर के फिर धर्म्म और अर्थ का चिन्तन

करें। उस दिन जो कार्य करने हों, उनका समय-विभागादि बनावें। धर्म्म और अर्थ के कामों को करते हुए यदि कोई कष्ट-क्लेश भी हो, तो भी ऐसी धारणा करें कि उनका परित्याग कदापि न होने पावे। व्यावहारिक और परमार्थिक कर्तव्य-कर्म की सिद्धि के लिये ईश्वर की स्तुति, प्रार्थना और उपासना भी किया करें। परमेश्वर की कृपा-दृष्टि और सहायता से महा कठिन कार्य भी बड़ी सुगमता से सिद्ध हो जाते हैं।" "इस प्रकार परमेश्वर की प्रार्थना और उपासना करनी चाहिए। तत्पश्चात् शौच हो, दतुवन कर, मुँह हाथ धो स्नान करना उचित है। एक वा डेढ़ कोस दूर एकान्त जङ्गल में जा कर योगाभ्यास की रीति से उपासना करे। घड़ी आधी घड़ी दिन चढ़े तक घर में आ जाय और सन्ध्योपासना आदि नित्य कर्म यथाविधि करे।" सन्ध्योपासना में "कम से कम तीन और अधिक से अधिक इक्कीस प्राणायाम विधिपूर्वक करने चाहिएँ।" "जो मनुष्य धर्माचरण से ईश्वर और उसके आदेश में अति प्रेम करते हैं और हृदय-रूप विमल वन में रात दिन रहते हैं, वे परमेश्वर के समीप वास करते हैं।"

पाँचवाँ बिन्दु ।

वेद-भक्ति ।

महर्षि दयानन्द का अवतरण वेदों की, वैदिक धर्म्म की और वैदिक सभ्यता की रक्षा के लिये हुआ था । इस कर्तव्य कर्म का पालन करने में उन्हों ने भरसक पुरुषार्थ किया और कोई भी यत्न उठा न रक्खा । इस परम कर्म को करते हुए उन के कार्य-क्षेत्र के आकाश में कई बार निराशा की सघन घोर घटाएँ घिर आईं । विरोध की आँधियों ने भूतलाकाश को एकाकार कर दिया । छोटे छोटे दल रूपी नदी-नाले भी उनका मार्ग रोकने के लिये उछल उठे—उमड़ पड़े । पर उधर भी निर्द्वन्द्व दण्डी दयानन्द थे जो दुःख-सुख, जीवन-मरण, शीतोष्ण और मानापमान को समान जान वैदिक संस्कृति की संरक्षा में रात-दिन तत्पर रहे । वे अपनी धर्म्म-धारणा के एक अंगुल भी इधर उधर नहीं हुए । जब उन को पता लगा कि भवती ब्लैवटस्की जी वेदों को ईश्वरादेश स्वीकार नहीं करतीं, तब उन्हों ने थियासोफिकल सोसायटी और आर्य समाज का सम्बन्ध-तार तुरन्त तोड़ डाला । वङ्ग देश के ब्रह्म समाजियों ने चाहा कि स्वामी जी वेद-विश्वास को ढीला कर दें परन्तु उन्हों ने नहीं माना । इसी कारण बम्बई प्रान्त के प्रार्थना-समाजी भी उनके साथ उदासीनता दिखाने लग गये। पञ्जाब के ब्राह्म समाजियों ने बड़े आदर के साथ उन को लाहौर

बुलाया। उन के खान-पान और आने-जाने आदि के व्यय का सारा बोझ अपने ऊपर लेने का वचन दिया। पर जब उन्हों ने देखा कि स्वामीजी तो वेदों के पक्के विश्वासी और परम भक्त हैं, तब वे इतने बिगड़े कि अपने आमन्त्रित अतिथि का अन्न-जल तक से भी आदर-आतिथ्य करना छोड़ बैठे। महामुनि ने लाहौर में लङ्गर मस्ती —भूखे रहना—तो सह ली, पर अपने उद्देश्य से, लक्ष्य से, श्रद्धा-विश्वास से, शिथिल हो कर सन्धि नहीं की।

महाराज का विश्वास था कि परमात्मा ने चारों वेदों का प्रकाश चार ऋषियों के अन्तःकरण में किया था। इस के स्पष्टीकरण के लिये जो दृष्टान्त उन्हों ने दिया है, उस का भाव यह है—"जैसे कोई वादित्र बजावे अथवा कठपुतली को नचावे तो वह क्रिया बाजे और कठपुतली की नहीं, किन्तु बजाने और नचानेवाले की होती है, उसी प्रकार वेदों का प्रकाश तो ईश्वर ने किया था, वे ऋषिजन केवल निमित्त-मात्र बनाये गये थे।" "ईश्वर सर्वशक्ति-मान् और सर्वव्यापक है। भीतर-बाहर व्याप्त होने से, वेदोप-देश के लिये उसे मुखादि अवयवों की क्रिया की कुछ भी आवश्य-कता नहीं। शब्दोच्चारण की क्रिया तो अपने से पृथक् व्यक्ति के लिये की जाती है। अपने भीतर तो मुखादि की क्रिया के बिना ही अनेक विचार और शब्दोच्चारण होते रहते हैं। कानों को उँगलियों से बन्द कर के सुनो और समझो कि मुखादि अवयवों की चेष्टा के बिना ही कैसे शब्द हो रहे हैं। जैसे ये शब्द बाहर की प्रेरणा के बिना होते हैं, वैसे ही अन्तर्यामी-रूप से जगदीश्वर ने

जीवों को वेदोपदेश किया है।" वेदार्थ-ज्ञान का आदेश सब महर्षि-मण्डल के मन में होता है—"धार्म्मिक, योगी, महर्षि जन जिस समय जिस मन्त्र के अर्थ जानने की जिज्ञासा से, ध्यानावस्थित हो, परमात्म-स्वरूप में समाधिगत हुए, तभी तभी परमेश्वर ने उन पर अभीष्ट मन्त्रों के अर्थों का प्रकाश किया। इसी वेदार्थ को ऋषि-मुनियों के इतिहास के साथ मिला कर ऋषियों ने ब्राह्मण ग्रन्थों की सृष्टि की। ब्राह्मण ग्रन्थ वेद का व्याख्यान हैं।" "जैसे आप्तों का कथन प्रमाण माना जाता है, वैसे सब के गुरु, परम आप्त परमेश्वर का उपदेश भी प्रमाण है।"

वेद के मुख्य तात्पर्य्य को, वेद के मुख्य अर्थ को, और वेद की प्रवृत्ति को, जिन शब्दों में श्री स्वामी जी ने वर्णन किया है, उन का सारा सार-मर्म यह है:—"परमेश्वर तीनों कालों के व्यवहारों को यथावत् जानता है। वही सब का कारण, आनन्दमय और सुख-स्वरूप है। सर्वशक्तिमान् परब्रह्म भी वही है। 'ओम्', 'खम्' आदि उसके नाम हैं। उसी में सब वेदों का तात्पर्य है। उसी की प्राप्ति कराने में सारे वेद प्रवृत्त हो रहे हैं। उस की प्राप्ति के सम्मुख किसी भी पदार्थ की प्राप्ति उत्तम नहीं है। और जो जगत् का वर्णन, दृष्टान्त और वस्तुओं का उपयोग आदि प्रदर्शन किया गया है, वे सब भी परब्रह्म ही को प्रकाशित करते हैं।"

"सब वेद-वाक्यों में विशेषता से ब्रह्म ही का प्रतिपादन है, परन्तु कहीं साक्षात् रूप से है और कहीं परम्परा-रूप से। अतएव वह परब्रह्म वेदों का परम अर्थ है। परमेश्वर ही वेदों का मुख्य

अर्थ है। उस से पृथक् जो यह जगत् है, सो वेदों का गौण अर्थ है। इन दोनों में प्रधान अर्थ ही का ग्रहण किया जाता है। इस का सारांश यही है कि वेदों का मुख्य तात्पर्य्य परमेश्वर ही के प्राप्त कराने और प्रतिपादन करने में है।"

स्वामी जी महाराज वैदिक संस्कृति के प्रबल पोषक थे। वेदों के भावों को ले कर उपवेद, वेदांग और उपांग आदि जो आर्ष ग्रन्थ बने हैं, वे सब वैदिक संस्कृति की सुकोमल, सुकुसुमित और अतिशय सुन्दर शाखाएँ हैं। विविध प्रकार के बहुमूल्य मणि-मोतियों से भरा पूरा भण्डार जो आर्य्य साहित्य है, वह वैदिक संस्कृति ही का उज्ज्वल अंश है। स्वामी जी आर्ष-साहित्य सरोवर को सुरक्षित रखने के लिये सदा सन्नद्ध रहा करते थे। किसी आर्ष ग्रन्थ का अनादर नहीं करते थे, किन्तु उसे प्रमाण मानते थे। उनके उपदेशों में वैदिक संस्कृति एक सुगठित, सुपुष्ट और परम सुन्दर शरीर है। वेद उसका मुख्य मेरु-दण्ड है। आर्ष ग्रन्थ उस के अङ्ग और उपाङ्ग हैं। यद्यपि मेरुदण्ड के साथ लगे हुए अङ्गोपाङ्ग शोभाशाली और समादर योग्य हैं, परन्तु उस से पृथक् हो जायँ तो उन का महत्व मिट जाता है। आर्ष साहित्य की प्रामाणिकता है तो पूरी, पर है तभी तक जब तक वह वेद पवित्र का अविरोधी हो।

आर्ष ग्रन्थों और शुद्ध तर्क को वेदार्थ करने में महर्षि कितना सहायक साधन समझते थे, इस का पूरा प्रकाश उन के आगे दिये हुए उपदेश से होता है:—"जब तक सत्य प्रमाण (और) सुतर्क

से सहायता न ली जाय, वेद-वाक्यों के पूर्वापर प्रकरणों का व्याकरण न आवे, शतपथ आदि ब्राह्मणों का, मीमांसा आदि शास्त्रों का तथा शाखान्तरों का ठीक ठीक बोध न हो, परमात्म देव अपना अनुग्रह न करें, उत्तम सन्त जनों की सुशिक्षा और सत्संग से निष्पक्ष न्याय बुद्धि और आत्मशुद्धि उपलब्ध न हो, महर्षियों के किये व्याख्यानों को न देखें भालें, तब तक मनुष्य के हृदय में यथार्थ वेदार्थ का प्रकाश नहीं हो सकता। सब आर्य विद्वानों का यह सिद्धान्त है कि प्रत्यक्षादि प्रमाणों से युक्त जो तर्क है, वही (वह भी) मनुष्यों के लिये ऋषि है।"

श्री स्वामी जी यह स्वीकार करते थे कि सर्वत्र सत्य समान है और वह वैदिक है। वे कहते हैं:—"जैसा सच्चा प्रयोजन ईश्वरोपदेश से सिद्ध होता है, वैसा दूसरे किसी के वचन से नहीं हो सकता। क्योंकि ईश्वरोपदेश भ्रान्ति-रहित और सर्वथा सत्य होता है; दूसरे किसी के वचन का ऐसा होना कठिन है। जो आत्म-ज्ञानी आप्त जनों के ग्रन्थों का ज्ञाता यदि वेदार्थ को ठीक समझ कर कहता है तो उसका कथन भी सत्य ही होता है। और जो केवल अपनी कल्पना से कथन करता है, उसके वचन सत्य नहीं हो सकते। हाँ, यह निश्चित बात है कि जहाँ जहाँ सत्य दीखता है, सुनने में आता है, वहाँ वहाँ वह सत्य वेदों ही से गया है—फैला है।" "जो बुद्धिमान् जन हठ, दुराग्रह नहीं करते, वे सभी वेद-मत में आ जाते हैं।"

वेद-विद्या का फल वे यह वर्णन करते हैं—"ब्रह्माण्ड में जितने

भी उत्तम पदार्थ हैं, उन सब की प्राप्ति से किसी को जो सुख हो, वह विद्या-प्राप्ति रूप सुख के हजारवें अंश के तुल्य भी नहीं हो सकता।"

मनुष्य-तन धारण करने का फल स्वामी जी यह बताते हैं—"ईश्वरोपदेश रूप वेदों से कर्म, उपासना और ज्ञान इन तीनों काण्डों के अनुष्ठान, इस लोक के व्यवहारों के फल की सिद्धि के लिये और यथार्थ उपकार करने के लिये, सभी मनुष्य पुरुषार्थ से करें। यही मनुष्य-देह धारण करने का फल है।"

छठा बिन्दु ।

शिक्षा ।

परमहंस स्वामी दयानन्द जी प्रत्येक बालक और बालिका की सुशिक्षा के बड़े पक्ष-पोषक थे। उनका यह मत था कि शिक्षा के बिना मनुष्य-मण्डल का सुधार होना असम्भव है, उन में एकता का होना नितान्त कठिन है। एक धर्म्म, एक भाषा, एक उद्देश्य और एक भाव, ये गुण किसी भी जाति की उन्नति के मुख्य साधन हैं. और वे शिक्षा के बिना सम्पादित नहीं किये जा सकते। महाराज शिक्षा का आरम्भ पाठशाला से नहीं मानते थे। उनका विश्वास था कि सच्ची शिक्षा का अथ-श्री तभी से होता है, जब सन्तान माता की कोख में सुरक्षित लता की भाँति पला करती है। उस समय के पैतृक संस्कार सन्तान को अच्छा बुरा बनाने में प्रबल कारण हुआ करते हैं। माता-पिता के आचार-विचार, कर्म-धर्म्म, और भावना-भाव की सन्तान साक्षात् प्रत्याकृति होती है। वैदिक संस्कारों की यह विशेषता सर्वमान्य हो रही है।

नन्हे से बच्चे को माँ-बाप किस प्रकार सिखावें, इस विषय में परमहंस जी का यह उपदेश है :—"माता बालक को सदा उत्तम उत्तम बातें सिखावे जिस से उसकी सन्तान सभ्य बन जाय, और किसी प्रकार की कुचेष्टा (कुव्यवहार) न कर सके। जब बच्चा बोलने लगे, तभी से उस की माता ऐसे प्रयत्न करे जिस से बालक

की जीभ कोमल हो कर (सध कर) शब्दों का स्पष्ट उच्चारण करने लग जाय। जब बालक कुछ अधिक बोलने लगे, तब उसे सुन्दर, सुगम और सरल वाक्य बोलने सिखावे। छोटे बड़ों से, माता पिता से, प्रतिष्ठित जनों से, राजा और विद्वानों से कैसे मिलना, वर्त्तना, सम्भाषण करना इस की रीति-नीति की शिक्षा दे। बैठने उठने का सभ्याचार समझावे।"

"माता-पिता ऐसा प्रयत्न सदा करते रहें जिससे उनकी सन्तान जितेन्द्रिय बने, विद्याप्रेमी हो और सत्संग में रुचि रक्खे। उनमें रोने झीखने का स्वभाव न उत्पन्न होने दें, लड़ने झगड़ने की आदत न डालें। उनको सत्यभाषी और निर्भय वीर बनावें। धैर्य्य रखना, सदा सुप्रसन्नवदन रहना, आदि शुभ गुणों का विकास उन में जैसे भी हो, करावें।"

"जब पुत्र-पुत्री पाँच वर्ष के हों, तब उन को देवनागरी अक्षर सिखाना आरम्भ कर देना चाहिए। अन्य देशीय भाषाओं के अक्षरों का अभ्यास कराना भी उचित है। तदनन्तर ऐसे मन्त्र, ऐसे श्लोक, ऐसे सूत्रादि गद्य पद्य कण्ठस्थ करावें जिन से उन को अनेकानेक उत्तमोत्तम शिक्षाएँ मिलें, उनकी विद्या बढ़े और धर्म्म तथा परमेश्वर में प्रीति उत्पन्न हो। वे माता, पिता, आचार्यादि को सम्मान दें; ज्ञानी और अतिथि जनों का आदर आतिथ्य करें। राजा से, प्रजा से, कुटुम्ब से और बन्धुवर्ग से उचित बर्ताव करना सीख जायँ; नौकर-चाकरों के साथ यथायोग्य व्यवहार कर सकें।"

दुर्गुणों से बचने की शिक्षा देना भी गुरुजनों का गुरुतर

कार्य्य है, क्योंकि बाल्य-काल में वे ही बालक के तन का, मन का और मस्तिष्क का निर्माण करनेवाले, मोड़नेवाले और उनको शुभ प्रवृत्तियों में जोड़नेवाले हुआ करते हैं। इस पर श्री स्वामी जी का उपदेश है—"माता, पिता तथा अध्यापक जन बालकों को चोरी-जारी से बचने की शिक्षा दें। उन्हें ऐसी शिक्षा दें जिस से आलस्य (और) प्रमाद उनके निकट न आने पावे। उनमें मिथ्या-भाषण का दोष कदापि न आवे। उन से हिंसा, क्रूरता, ईर्ष्या, द्वेष और मोह आदि दुर्गुण दूर हो जायँ और वे सदाचारी बनें।"

शिक्षा का एक श्रेष्ठ और सुन्दर अंग शिष्टाचार है। कितना ही कोई पढ़ा-लिखा हो, शरीर से सुन्दर हो, वस्त्रों से सजा हो, और हार-सिंगार से बना-ठना हो, परन्तु यदि उसे शिष्टाचार नहीं आता तो वह सभा-समाज में निरा विहंगम ही दिखाई देगा, लोगों के उपहास ही का स्थान बनेगा। परमहंस जी ने शिष्टाचार की शिक्षा के विषय में यह उपदेश दिया है—"बालकों को चाहिए कि वे दृढ़प्रतिज्ञ हों, यह स्मरण रक्खें कि प्रतिज्ञा भंग करना, वचन दे कर न पालना, बड़ा भारी पातक है। वे सदा कृतघ्नता रूप दोष से दूर रहें, क्रोध न करें, कटु वचन उच्चारण न करें। सच्चे, शीतल और मधुर वचन ही बोलें। बहुत बक बक और वितण्डावाद का स्वभाव न बनावें। उचित, हित और मित भाषी बनें। बड़े बूढ़ों को समादर दें; उन को आते देख उठ खड़े हों। अभ्यागमन-पूर्वक उनका स्वागत करें। पहले नमस्ते निवेदन कर के उनको उच्चासन पर बैठावें। तत्पश्चात् उनके सामने उत्तम आसन

पर आप भी बैठें । सभा-समाज में, अपनी योग्यता के अनुसार, पहले ही ऐसे स्थान पर बैठें जहाँ से कोई उठा न सके। किसी से वैर-विरोध न बाँधें। धनी होने पर भी गुणों के ग्रहण और दोषों के परित्याग का स्वभाव न छोड़ें। सज्जनों का सत्संग करें, दुर्जनों से दूर रहें। अपने माता-पिता और आचार्य की तन, मन और धनादि उत्तमोत्तम पदार्थों से प्रीतिपूर्वक सेवा करें।" बालकों को चाहिए कि "आज्ञापालन करें। निन्दा कभी न करें। सदा शान्त रहें। गुरु जनों से पूछने योग्य प्रश्न हाथ जोड़ कर पूछें। घमण्डी-पन न दिखावें। वस्त्र स्वच्छ रक्खें। उत्तम जनों को सम्मान दें। कृतज्ञ हों। अपने में कृतघ्नता और आलस्य-प्रमाद कदापि न आने दें। आत्मिक, मानसिक और शारीरिक बल बढ़ावें।" "माता, पिता तथा आचार्य अपनी सन्तान और शिष्यों को सदा सदुपदेश दें और यह भी कहें कि जो हमारे धर्म्मयुक्त कर्म हैं, उन्हीं को आप ग्रहण कीजिये। जो दुष्ट कर्म हों उन को छोड़ दीजिये। जो जो सत्य समझिये, उसी का प्रकाश और प्रचार कीजिये।"

स्वामी श्री दयानन्द जी जिस काल कटि कस कर कार्य-क्षेत्र में उतरे थे, उस समय जो शिक्षा भारतीय भावों को लिये, पुरानी पद्धति पर, परम्परा से चली आती थी, उसका अधिकांश लुप्त हो चुका था। जो रही सही थी वह सिसकती हुई अन्तिम साँस ले रही थी। वह प्राचीन शिक्षा कुछ थोड़े से लोगों का ही इजारा न थी। उसमें विशेषता यह थी कि वह उदार भावों से दी जाती थी। वह भारतीयों को भारतीय और सच्चे अर्थों में मनुष्य बनाती थी।

अधिकांश मनुष्यों को वह बिना शुल्क उपलब्ध होती थी। भारतीय भावों की शिक्षा का अभाव कर के उस की भस्म पर जो भारी भवन खड़ा किया गया था, उसका नाम सरकारी शिक्षा था। उस सरकारी शिक्षा का महामन्दिर यद्यपि हिन्दुओं को उस समय मनोमोहक जान पड़ा, परन्तु कुछ काल के अनन्तर नेता जनों को उस का मूल्य और महत्व स्पष्ट दीखने लग गया।

आरम्भ समय में, सरकारी शिक्षा सरकार द्वारा तो दी ही जाती थी, पर ईसाई लोग भी, इसे अपने धर्म्म-प्रचार का एक अच्छा साधन जान कर, इस का प्रचार कर रहे थे। पहले पहले इस सुवर्ण सदृश मायामय मृग ने हिन्दुओं ही के मनों को मोहित किया। इस का परिणाम यह निकला कि अनेक कुलीन जनों ने अपने धर्म्म-कर्म्म और जाति-बिरादरी तक को जलाञ्जलि दे दी। जो सज्जन इतनी दूर न गये, उन्हों ने वेश, विभूषा, भात्र और भाषा में एक भारी भेद उत्पन्न कर के एक नई जाति की नीव रखनी आरम्भ की। ऋषि दयानन्द के कार्यारम्भ-काल में यह परिणाम अपने पूर्ण रूप से प्रत्यक्ष हो गया था। उन को तो शिक्षण का यह स्वरूप एक स्वाँग सा दिखाई दिया—आर्य्य मर्यादा के अपहरणार्थ ब्राह्मण-वेश में रावण जान पड़ा।

सरकारी शिक्षा का यंत्र नौकरशाही की दमन-नीति के सङ्कुचित साँचे में ढला था। इस कारण वह ऐसे ही मनुष्य निकालता था जो अधीनस्थ हो कचहरियों की चक्की पीस सकें और दफ़्तरों का ताना-बाना भली भाँति तनते बुनते रहें। यह शिक्षण अनुदार और

बहुव्यय-साध्य था। यह धर्म्म और जातीय भावों से निरा कोरा था। श्री स्वामी जी इसे एक सिरे से ही बदल देना चाहते थे। इस अभद्र भवन के स्थान में वे वैदिक संस्कृति की सर्वाङ्गसुन्दर एक विशाल शाला निर्माण करने की सामग्री उपस्थित कर रहे थे। उनके शिक्षा-सम्बन्धी विशुद्ध सिद्धान्तों का सार यह है:—

"विद्यालय में सब विद्यार्थियों को समान खान-पान, वस्त्र और आसन दिये जाने चाहिएँ चाहे वे राजकुमार, राजकुमारी हों और चाहे दरिद्र जन की सन्तान। सभी को तपस्वी बनना उचित है।"

"ऐसा राजनियम और जातीय नियम हो कि कोई जन अपने लड़के लड़की को घर में न रक्खे—पाठशाला में अवश्यमेव भेजे। जो न भेजे उसे दण्ड दिया जाय।" जो जन अपनी सन्तानों को विद्या-दान देते हैं, और जिस देश में उदार भाव से सार्वजनिक शिक्षा दी जाती है, उसके प्रति महाराज के भाव इस प्रकार के थे—

"वे ही जन धन्यवाद के योग्य हैं, कृतकृत्य हैं जो अपनी सन्तानों के शारीरिक और आत्मिक बल को ब्रह्मचर्य्य से, उत्तम शिक्षा से और विद्यादान से बढ़ाते हैं। जिस देश में ब्रह्मचर्य्य का पालन, विद्या की वृद्धि और वेदोक्त धर्म्म का प्रचार हो, वही देश सौभाग्यशाली समझना चाहिए।" "जिन जनों का मन विद्या-विलास में तत्पर रहता है, जो सत्य-भाषणादि नियम पालन करते हैं, अभिमान और अपवित्रता से ऊपर हैं, दूसरों की मलिनता दूर करते हैं, सत्योपदेश से और विद्यादान से संसारी जनों के दुःख दूर करने से सुभूषित हैं और वैदिक कर्म्मों से परोपकार करने के लिये

रात दिन लगे रहते हैं, वे नर-नारी धन्य हैं।"

श्री परमहंस जी विद्या का सुस्वादु फल इन शब्दों में वर्णन करते हैं :—"स्वार्थ और परार्थ, इन दो प्रयोजनों को विद्या सिद्ध करती है। ऐसा आत्मा किस मनुष्य का होगा जो सुख सिद्ध करनेवाले व्यवहारों को छोड़ कर उलटे आचरण करने में प्रसन्न हो ? क्या यथार्थ व्यवहार किये बिना किसी को सर्व सुख मिल सकता है ? क्या सुशिक्षा के बिना धर्म्म, अर्थ, काम और मोक्ष की उपलब्धि हो सकती है ? और क्या विद्या-विहीन जन पशु समान नहीं हैं ? सत्य तो यह है कि आज तक किसी मनुष्य को विद्या के बिना सुख प्राप्त नहीं हुआ। विद्या-प्राप्ति से वस्तुओं का यथार्थ ज्ञान, व्यवहारों का यथावत् बोध प्राप्त कर के आप सुखी होना और परोपकार द्वारा जनता को सुखी करना विद्या का फल है। जिस देश में, जिस जन में, विद्या-रूप सूर्य का अभाव है और अविद्यान्धकार की वृद्धि है, वहाँ दुःखों की भरमार हुआ ही करती है। जहाँ विद्या का सूर्य्य अपने प्रकाश से अविद्यान्धकार को नष्ट कर देता है, उस देश और आत्मा में सदा आनन्द का संयोग बना रहता है और दुःखों को कहीं ठौर ठिकाना तक नहीं मिलता।"

स्वामी जी महाराज देवनागरी अक्षरों और आर्य भाषा के बड़े पक्के पक्षपाती थे। वे चाहते थे कि भारतवर्ष भर में इनका प्रचार हो जाना चाहिए। प्रत्येक आर्य समाजी के लिये आर्य भाषा का सीखना उन्होंने आवश्यक ठहराया है। यद्यपि उनकी अपनी मातृ-भाषा गुर्जर थी, उसमें वे बड़ी सुगमता के साथ अपनी

पुस्तकें लिख सकते थे, परन्तु उन्होंने ऐसा नहीं किया। उन्होंने अपनी सम्पूर्ण पुस्तकें आर्य भाषा ही में लिखवाईं और छपवाईं। अपने जन्म-देश में भी जा कर व्याख्यान दिये तो आर्य भाषा ही में दिये। उनका भारत भर में भाषा-ऐक्य करने का यह उत्कृष्ट कर्म इस देश के निवासियों को सदा स्मरण रहेगा।

एक बार एक सज्जन ने स्वामी जी से निवेदन किया—"भगवन, यदि आप अपनी पुस्तकों का अनुवाद करा के फारसी अक्षरों में छपा दें तो पंजाब आदि प्रान्तों के जो लोग नागरी अक्षर नहीं जानते, उन को आर्य धर्म्म के जानने में बड़ी सुविधा हो जाय।"

उत्तर में स्वामी जी बोले—"भाई, अनुवाद तो विदेशियों के लिये हुआ करता है। नागरी अक्षर थोड़े ही दिनों में सीख लिये जाते हैं। आर्य भाषा का सीखना भी कुछ कठिन नहीं है। अरबी फ़ारसी के शब्दों को छोड़ कर ब्रह्मावर्त की सभ्य भाषा ही आर्य भाषा है। यह सुकोमल और सीखने में सुगम है। जो मनुष्य देश में जन्म ले कर अपनी भाषा तक के सीखने में परिश्रम नहीं करता, उससे और क्या आशा की जा सकती है? उसको धर्म्म की लगन है, इसका भी क्या प्रमाण है? महाशय, आप तो अनुवाद की सम्मति देते हैं, परन्तु दयानन्द के नेत्र तो वह दिन देखना चाहते हैं, जब काश्मीर से कन्याकुमारी तक और अटक से कटक तक देवनागरी ही के अक्षरों का प्रचार होगा। मैंने भारतवर्ष में भाषा का ऐक्य सम्पादन करने ही के भाव से अपने सारे ग्रन्थ आर्य भाषा में बनाये और छपवाये हैं।"

सातवाँ बिन्दु ।

धर्म्म ।

महर्षि अपने उपदेशों में लोक-हित के सभी विषयों पर बोला करते थे। समाज-सुधार और जातीय उद्धार पर भी व्याख्यान देते थे, परन्तु उनका मुख्य कर्तव्य-कर्म वैदिक धर्म्म का प्रचार ही रहा। इसी में उन्हों ने अपना सर्वस्व समर्पण किया। इसकी संरक्षा में कोई यत्न शेष नहीं रक्खा। वे वैदिक धर्म्म को एक उदार और सार्वभौम धर्म्म मानते थे। धर्म का स्वरूप उन्हों ने इन वाक्यों में प्रदर्शित किया है:-"धर्म वह है जिस में ईश्वर की आज्ञा का ठीक ठीक पालन हो, निष्पक्ष न्याय और सर्व-हित करना हो, वेदोक्त हो और प्रत्यक्षादि प्रमाणों से सुपरीक्षित हो। मनुष्यों को चाहिए कि ऐसे ही धर्म्म को मानें।" "पक्षपात का परित्याग कर के, प्रत्येक प्रकार से, सत्य का ग्रहण और असत्य का छोड़ना न्यायाचरण है। ऐसा न्यायाचरण धर्म्म का स्वरूप है। इसी धर्म का ज्ञान प्राप्त करना और ठीक ठीक अनुष्ठान करना कर्म-काण्ड का एक प्रधान भाग है। जो पक्षपात-रहित न्याय है, सत्याचरण और असत्य का परित्याग करना है, उसी को धर्म्म कहते हैं। धर्म का यही स्वरूप सर्वोत्तम है। वेद-विहित कर्म ही धर्म्म है।"

स्वामी जी महाराज परोपकार को भी धर्म्म का एक प्रधान अंग मानते थे। इस पर उनका उपदेश यह है—"परोकार करना धर्म्म और पर-हानि करना अधर्म्म कहता है। जगत् में ऐसा

मनुष्य कौन है जो सुख-प्राप्ति में सुखी तथा प्रसन्न और दुःख-प्राप्ति में दुःखित न होता हो ? जैसे अपने ऊपर यदि कोई उपकार करे तो आनन्द होता है, उसी प्रकार दूसरों का उपकार करने में भी आनन्द मनाना चाहिए। क्या भूगोल भर में कभी कोई मनुष्य ऐसा था, अब है अथवा आगे होगा जो परोपकार-रूप धर्म्म और परहानि-रूप अधर्म्म के बिना धर्म्माधर्म्म का कोई अन्य स्वरूप सिद्ध कर सके ?"

श्री स्वामी जी की यह धारणा थी कि सच्चा धर्म्म सब में समान होता है, साम्प्रदायिक बंधनों और आडम्बरों से बाहर रहता है। उस की आधार-शिला सत्य और मौलिक सिद्धान्त हुआ करते हैं। वह किसी विशिष्ट जाति के पक्ष से ऊपर विराजता है और देश-विशेष की दीवार से नहीं घिरता। ऐसे सत्य-स्वरूप धर्म्म का वर्णन वे इस प्रकार किया करते थे—"वही सनातन तथा नित्य धर्म्म है जो सर्वतन्त्र सिद्धान्त है; सार्वजनिक धर्म्म है; जिस को सब सज्जन सदा से मानते चले आते हैं; जिस का विरोधी कोई भी नहीं हो सकता; जिसे आप्त जन—सत्यवादी, सत्ययानी, सत्यकारी, परोपकारी और विद्वान् स्वीकार करते हैं। जो कर्म सब के अविरुद्ध है, आत्मा के अनुकूल है, वह धर्म्म है।"

"सभी देशों के जनों और मतावलम्बी सज्जनों को सत्य बोलना अनुकूल है। वे नहीं चाहते कि उनके साथ कोई मिथ्या व्यवहार करे, छल-कपट से बर्ते, उन को हानि पहुँचावे, पीड़ा दे, सतावे, उन के धन-धान्य का अपहरण करे, उनकी मान-मर्यादा की ओर

ताके। बस ऐसे ही कर्म सर्वमान्य समान धर्म्म के हैं। यह धर्म्म सब के अनुकूल है। इसे सब स्वीकार करते हैं।"

"जो कर्म पक्षपात-रहित न्यायरूप है, सत्याचरण है, पाँचों परीक्षाओं के अनुकूल आचार है, ईश्वराज्ञा का पालन है, परोपकार का कर्तव्य है, वह धर्म्म है। इससे उलटा अधर्म्म कहा जाता है। विरोधजनक कर्म भी धर्म्म नहीं हो सकता। जो व्यवहार दूसरों से अपने लिये चाहे, वही दूसरों के साथ करना धर्म्म है। जैसा भाव आत्मा में हो, उसी को वचन से कहना, उसी के अनुसार कर्म करना, विचारवान् और विवेकी बनना धार्मिक जीवन के उज्ज्वल अंश हैं।"

परमहंस श्रीदयानन्द जी आचारवान् व्यक्ति का बड़ा आदर करते थे। वे सदाचार का प्रति दिन उपदेश देते थे। उन के सदुपदेशों के सुशीतल स्वच्छ जल में स्नान कर के कई मनुष्य अपना जन्म सफल बना गये, संसार-सागर से पार पा गये। दुराचार की महाव्याधि के नाश के लिये उनके उपदेश रामबाण का काम किया करते थे। एक दिन एक युवक अपने एक वेश्यासक्त युवक मित्र को स्वामी जी के समीप ला कर कहने लगा कि महाराज के सत्संग से इस का सुधार हो जाय। महाराज अपने नेत्रों की हित-भरी ज्योति उनके मुखमण्डलों पर डाल कर उपदेश देने लगे—"सौम्य युवको, वैसे तो सभी व्यसन बुरे हैं, परन्तु वेश्या सर्वनाशकारिणी है। इस कुव्यसन से सुरापान की बान सहज में पड़ जाती है। सभ्य वेष, सभ्य भाषा, सभ्याचार आदि सभी गुण नष्ट हो जाते

हैं। कुलाचार पर कठोर कुठाराघात हो जाता है। रात दिन राग-रंग में मग्न रहने से व्यवहार-बुद्धि का अभाव होने लगता है। वेश्या-व्यसनी धर्म्म-कर्म से सदा दूर भागता है। वारांगना अपने वशीभूत जन के मन को बनावटी प्रेम, बाहर की बातों और हाव भाव से सदा उत्तेजित रखती है, जिस से व्यसनी लोग अल्प काल ही में तेज और बल-बुद्धि खो बैठते हैं। वेश्या का प्रेम स्वार्थ-पूर्ण होता है। जब स्वार्थ-सिद्धि नहीं होती तब वह बात तक नहीं पूछती।" "वेश्यासक्त के परिवार में आचार की शुद्धि नहीं रहती। उस का वंश नष्ट हो जाता है। यदि वंश नष्ट न भी हो, तो भी उस की सन्तान का सदाचारी होना महा कठिन है।" महाराज ने फिर कहा—"युवको, भला यह तो बताओ, यदि वेश्यासक्ति से लड़की उत्पन्न हो तो वह लड़की किस की हुई?" युवकों ने कहा—"उस वेश्यासक्त पुरुष की।" तब स्वामी जी बोले—"वह युवती हो कर क्या काम करेगी?" युवकों ने उत्तर दिया—"और क्या करेगी, वेश्या बन कर बाजार में बैठेगी।" तब स्वामी जी ने मर्मस्पर्शी शब्दों में कहा—"देखिये, संसार में कोई भी भला मनुष्य नहीं चाहता कि उस की पुत्री वेश्या बन कर बाजार में बैठे। परन्तु वेश्या के अनुरक्त जन ही ऐसे हैं जो अपनी बेटियों को वेश्या बनाते हैं, चकले में बैठाते हैं और द्वार द्वार पर नचाते हैं। तुम ही सोचो कि क्या यह बहुत बुरी बात नहीं है।"

यह सुन कर उस युवक की काया पलट गई। उसने वेश्या-व्यसन के विकट बन को तुरन्त काट डाला।

सदाचार के सम्बन्ध में परमहंस जी के ये वचन हैं—"सृष्टि के आरम्भ से आज तक सत्पुरुषों का जो वेदोक्त आचार चला आया है, जो सत्य का ग्रहण और असत्य का त्याग रूप कर्म है, उसे सदाचार कहते हैं। राग, द्वेष, अन्याय और मिथ्या भाषणादि दुर्गुणों—दोषों को त्याग कर निर्वैरता, प्रीति परोपकार, सज्जनतादि गुणों को धारण करना उत्तम आचार है।"

किसी को कैसे ज्ञान हो कि यह कर्म धर्म्ममय है और वह नहीं है? इस पर श्री स्वामी जी का उपदेश है—"जिस कर्म का वेद प्रतिपादन करें, मनु-स्मृति जिस का उपदेश दे, आर्ष शास्त्र जिसे धर्म्म बतावें, सत्पुरुषों ने जिस का आचरण किया हो और जो अपने आत्मा के अनुकूल हो— जिसे करते मन में भय, शङ्का और लज्जा न उत्पन्न हो—वह कर्म करने योग्य है, वही धर्म्म है। जो कर्म आत्मा के प्रतिकूल हैं, जिन को करते भय, शङ्का और लज्जा आदि भाव आ घेरते हैं, जैसे चोरी आदि कुकर्म हैं, उन को कभी न करना चाहिए। यह भी समझ लेना उचित है कि धर्म्म अपने आत्मा और कर्तव्य के साथ सम्बन्ध रखता है।"

सभी नर-नारी विद्या और धर्म्मयुक्त हो सकते हैं अथवा नहीं हो सकते, इस का श्री स्वामी जी ने यह निर्णय किया है— "सब के लिये विद्वान् होने की तो सम्भावना नहीं है, परन्तु यदि धार्मिक बनना चाहें तो सभी बन सकते हैं।" धार्म्मिक कौन बना सकता है? इस का उत्तर स्वामी जी यह देते हैं—"अविद्वान् लोग तो दूसरों को धर्म्म में निश्चय नहीं करा सकते। विद्वान् जन

ही अपना जीवन धार्मिक बना कर दूसरों को धर्म्मात्मा बना सकते हैं। धूर्त जन भोले भाले मनुष्यों को ही भ्रम में डाला करते हैं। परन्तु वे विद्वानों को, अपने दाँव पेंच से, अधर्म्म पर नहीं चला सकते। जैसे मार्ग में पड़नेवाले कूएँ में गिरने की सम्भावना अन्धे के लिये ही है, जो मार्ग को आँखों से देख-भाल कर चलता है, वह नहीं गिरता, वैसे ही अबोध जन तो भ्रम-भँवर में पड़ कर चक्कर खा जाते हैं, परन्तु सत्यासत्य के विवेकी विद्वान् को बह-काना कठिन काम है।"

जैसे धार्मिक बनने के लिये अन्तर्मुख होने की इन्द्रियों को जीतने की, मन के संयम की, और परमात्मा के प्रेम की बड़ी भारी आवश्यकता हुआ करती है, वैसे ही परमात्म-भय—परलोक भय—भी जीवन को धार्मिक बनाने का एक आवश्यक अंग है। धार्मिक जीवन के लिये परमात्म-भय और मनुष्य-भय में कितना भेद है, महर्षि इस का यों वर्णन करते हैं—"जब तक मनुष्य सर्वान्तर्यामी, सर्वदर्शी, सर्वव्यापक और सब कामों के साक्षी परमात्मा से नहीं डरता, यह नहीं समझता कि ऐसा कोई कर्म नहीं है जो परम प्रभु से छिपा हो, तब तक पाप-कर्म करने से बचना दुष्कर है। आत्मभीरु हो कर जो सत्य विद्या और सुशिक्षा को ग्रहण करता है, सत्संग से लाभ उठाता है, पुरुषार्थी तथा उद्योगी बना रहता है, इन्द्रियों को वश में रखता है और ब्रह्म-चर्य्य-व्रत का पालन करता है, वह धर्म्मात्मा बन जाता है। इस के विपरीत चलनेवाला नहीं बन सकता।"

"जो मनुष्य राजादि अल्पज्ञ मनुष्यों से तो डरता है, परन्तु परमात्मदेव का भय नहीं मानता, उस का धार्मिक होना असम्भव है। राजादि के देखते भीरु मनुष्य बाहर के मोटे मोटे कुकर्म करने से तो रुक जाता है, परन्तु उस के मलिन मन में दोषों की दौड़ बराबर होती रहती है। राजादि किसी का भीतर नहीं देख सकते। इस कारण किसी जन को पाप के कीचड़ से निकालना उन के सामर्थ्य से बाहर की बात है। परन्तु सन्तों के मत में मन को देखनेवाला—भीतर के कर्मों को जाननेवाला—राजा एक तो अपना आत्मा और दूसरा परमात्मा है। इन्हीं का शासन और भय पुण्योपार्जन का परम उपाय है। राजभीरु जन तो राजादि से छिप कर अनेक घोर अपराध तक किया करते हैं। परन्तु आत्म-भीरु भक्तों के भावों में भी पापों का अभाव हो जाया करता है।"

आत्म-भीरु धार्मिक जन के लिये महाराज का हृदय-उद्‌गार यह है:—"जो ब्रह्म विमल सुखदाता है, पूर्णकाम, तृप्त और जगत्‌व्याप्त है, वही सारे वेदों से प्राप्त करने योग्य है। जिस जन के मन-मन्दिर में ऐसे ब्रह्म का प्रकट प्रकाश है, वह निश्चय ब्रह्मानन्द का भागी है। वही सदा सब से अधिक सुखी है। ऐसा मनुष्य धन्य है। और जो मनुष्य इस संसार में अत्यन्त प्रेम से बर्ताव करता है, विद्या, सुविचार और सत्संग में परायण रहता है, धर्मात्मा, निर्वैर और जितेन्द्रिय है और प्रत्यक्षादि प्रमाणों से परमात्मा को स्वीकार करता है, वह मनुष्य अतीव भाग्यशाली है।"

आठवाँ बिन्दु।

परोपकार।

स्वामी जी से पूर्व भारतवर्ष में जितने आचार्य हुए, उन्होंने परोपकार को, दीनों के उद्धार को, अनाथ-रक्षा को और पर-सेवा को कोई बड़ा महत्व नहीं दिया; लोक-हित के कामों को हाथ नहीं लगाया; दीन-दुखियों की दरिद्रता दूर करने में प्रवृत्ति नहीं दिखाई। वे केवल आध्यात्मिक पक्ष और साम्प्रदायिक भेदों पर धर्म-सुधार और प्रचार को समाप्त करते रहे। यह श्रेय तो परमहंस जी ही को प्राप्त हुआ जिन्होंने लोक-हित के कार्यों को करने पर उतना ही बल दिया जितना कि आत्म-कल्याण के कामों पर। उन्होंने वैदिक संस्कृति के सितार के नूतन संस्कार में परोपकार के तार-स्वर को मिला दिया, उसको सुकोमल, सुमधुर और अतिशय सुन्दर बना दिया। श्रीदयानन्द आपाद मस्तक से, भीतर-बाहर से और मन-तन से परोपकार-रूप थे, परोपकार-परायण थे। उन के सारे जीवन में परोपकारी कला अधिक चमका करती थी।

महाराज परोपकार का वर्णन इस प्रकार करते हैं—"दूसरे प्राणियों के सुख के लिये अपने सारे सामर्थ्य से तन, मन, धन से प्रयत्न करना परोपकार कहलाता है। परोपकार वह कर्म है जिससे सब मनुष्यों में से दुराचार और दुःख दूर हो, उनमें सदाचार

और सुख बढ़े। जिस कर्म में सब का हित हो उसी का प्रचार करो। सदा सारा पुरुषार्थ जीवों के सुख के लिये ही होना चाहिए।"

उपकार-कर्म से अपने आप को भी सुख मिलता है और यह कर्म मनुष्य-कर्तव्य भी है। "जनता के सुख के लिये यज्ञ किया जाता है और फल में यजमान-यज्ञकर्ता—को भी आनन्द प्राप्त होता है। इसका कारण यह है कि जो जन जगत् का जितना उपकार करेगा, ईश्वर की व्यवस्था मे उसे उतना ही सुख मिलेगा। मनन-शील, विचारवान प्राणी का नाम मनुष्य है। जगत् में जितने देहधारी प्राणी हैं, उनमें यह मनुष्य ही उत्तम है। इस कारण मनुष्य ही उपकार और अनुपकार को जान सकता है।"

किस किस पवित्र कार्य में तन, मन और धन लगाना चाहिए, इसका उपदेश परमहंस जी ने यों दिया है—"विद्या की वृद्धि में, परोपकार में, अनाथों के पालन में और सम्वर्धा सज्जनों की सहायता में अपने तन, मन, धन का व्यय करना पुण्य कर्म है। विद्या-प्राप्ति के लिये परोपकारी जन को चाहिए कि व्यायाम, पथ्य और पुष्टिकारक भोजन से शरीर को नीरोग रक्खे, विद्या का अभ्यास करे, मन से ज्ञान की बातों को मनन करे, और धन से अपनी सन्तान तथा अन्य जनों को विद्यादान दिलाना परोपकार समझे। परोपकार करने के लिये तन से अत्यन्त उद्योग करना चाहिए। मन में गहरी लगन हो। धन से नाना प्रकार के व्यवहार, उद्योग-धन्धे चलावे, कारखाने खोले

जिनमें अनेकानेक मनुष्य काम कर के सुख से अपना जीवन बिता सकें। जो अपना पालन आप नहीं कर सकते, ऐसे अनाथ अपाहिज बालकों और वृद्धों का, परोपकारी मनुष्य, भरण-पोषण करें। जिनके अङ्ग भङ्ग हो गये हों, जो रोगी हों, ऐसे दीन-दुखियों को तन, मन, धन लगा कर भी सुखी बनावे। उनमें से जिससे जो काम हो सके वह करावे। किसी को आलसी और निरुद्यमी बनाना परोपकार तथा दान का उद्देश्य नहीं है। किसी को निकम्मा कभी न बनाना चाहिए। अपनी सन्तान को और मनुष्य मात्र को विद्या पढ़ाने में, योग्य बनाने में, और उनके खाने-पीने का प्रबंध करने में यदि तन-मन-धन तक लगा दिया जाय तो भी थोड़ा है।"

श्रीदयानन्द जी पुरुषार्थी जन को अच्छा समझते थे, आलसी को भूमि पर भाररूप मानते थे। उनके विचार में पुरुषार्थी होना, उद्योग करना, परिश्रमी बनना, जीवन-सङ्ग्राम में सदैव सन्नद्ध रहना प्रत्येक जन का कर्त्तव्य-कर्म है। अपनी रक्षा आप करना, स्वावलम्ब से जीवन बिताना एक धर्म्म है। उद्योग के विषय में श्रीमुख-वाक्य आगे दिये जाते हैं—"उद्योग पुरुषार्थ का नाम है। इसके चार भेद हैं। एक अप्राप्त की प्राप्ति की इच्छा, दूसरे प्राप्त-संरक्षा, तीसरे रक्षित की वृद्धि और चौथे बढ़े हुए पदार्थों को धर्म्म में लगाना। जो कर्म यत्न, उपाय और न्याययुक्त हैं, उनसे अप्राप्त पदार्थों को प्राप्त करने का प्रयत्न करना पुरुषार्थ है। प्राप्त पदार्थों को नष्ट भ्रष्ट होने से बचाना, उन्हें धर्मयुक्त व्यवहार से

बढ़ाते जाना, फिर उनको शुभ कार्यों में व्यय करना—उदार भाव से दान देना—यह चार प्रकार का पुरुषार्थ है। यही पुरुष का प्रयोजन है।"

एक दिन एक साधु ने श्रीमहाराज से कहा कि आप प्रवृत्ति मार्ग में क्यों पड़ गये हैं? पहले की भाँति अवधूत-वृत्ति में विचरिये। इस प्रकार के बखेड़े में क्या रक्खा है? स्वामी जी मुस्कराकर बोले—"साधु जी, शास्त्रीय प्रवृत्ति प्रजा-प्रेम से प्रेरित हो कर सब को करनी उचित है।"

साधु जी बोले—"प्रजा-प्रेम का नया बखेड़ा क्यों गले में डालते हो? आत्मा से प्रेम करो, जिसका वर्णन श्रुतियाँ कर रही हैं।" स्वामी जी ने पूछा—"महात्मन्, क्या आप सर्व-व्यापी घट घट के साची आत्मा से प्रेम करते हैं?" उसने उत्तर दिया "हाँ, करता हूँ।" महाराज गम्भीरतापूर्वक बोले—"नहीं, आप उस आत्मा से प्रेम नहीं करते। आप को अपनी भिक्षा की चिन्ता है, अपने वस्त्र उज्वल बनाने का ध्यान है, अपने भरण-पोषण ही का विचार है। क्या आपने अपने उन बन्धुओं का भी कभी चिन्तन किया है जो आप ही के देश में लाखों की संख्या में भूख की चिता पर पड़े रात-दिन, बारहों महीने, भीतर ही भीतर जल कर राख हो रहे हैं? आप के देश में सहस्रों मनुष्य ऐसे हैं जिन्हें आजीवन उदर भर कर खाने को अन्न नहीं जुड़ता। उनके तन पर सड़े-गले, मैले-कुचैले चिथड़े लिपट रहे हैं। लाखों निर्धन दीन ग्रामीण भेड़ों और भैंसों की भाँति, गंदे कीचड़ और

कूड़े के ढेरों से घिरे हुए और सड़े-गले झोंपड़ों में लोटते हुए अपने जीवन के दिन काट रहे हैं। ऐसे कितने ही दीन-दुःखिया भारतवासी हैं जिनकी सार-सँभार कोई भूले भटके भी नहीं लेता। बहुतेरे कुसमय में ही, राजमार्गों पर पड़े पड़े पाँव पीट कर मर जाते हैं। परन्तु उनकी बात तक कोई पूछनेवाला नहीं मिलता। महात्मन्, यदि आत्मा से—विराट् आत्मा से—प्रेम करना है तो अपने अङ्गों की भाँति सब को अपनाना होगा। अपनी क्षुधा-निवृत्ति की तरह उनकी भी चिन्ता करनी पड़ेगी। सच्चा परमात्म-प्रेमी तो किसी से घृणा नहीं करता। वह ऊँच-नीच की भेद-भावना को त्याग देता है। वह उतने ही पुरुषार्थ से दूसरों के दुःख निवारण करता है, कष्ट-क्लेश काटता है जितने से कि अपने। ऐसे ज्ञानी जन ही, वास्तव में, आत्म-प्रेमी कहलाने के अधिकारी हैं।" यह उपकारमय उपदेश सुन कर साधु जी श्री चरणों में पड़ कर धन्यवाद करने लग गये।

दूसरों को सुख देना, उन पर दया करना, श्रीमहाराज के मत में उपकार कर्म है। इस विषय में उन्होंने कहा है—"वे धर्मात्मा विद्वान् जन धन्य हैं जो ईश्वर के गुण-कर्म-स्वभाव के अनुसार सृष्टिक्रम के अनुकूल, प्रत्यक्षादि प्रमाणों और आप्त जनों के आचार से अविरुद्ध चल कर सारे संसार को सुख-सहित करने का यत्न करते हैं। वे मनुष्य शोचनीय हैं जो स्वार्थवश निर्दयता से दूसरों की हानि पर तुले रहते हैं। पूजनीय वे जन हैं जो अपनी हानि कर के भी पराया हित और उपकार करने में तन-मन-धन

तक अर्पण कर देते हैं। और वे अति तिरस्कार के योग्य हैं जो अपने ही लाभ में लगे हुए दूसरों के सुखों का सर्वनाश करते फिरते हैं।"

फर्रुखाबाद में एक दिन दान-धर्म पर व्याख्यान देते हुए महाराज बोले—"अन्न जल का दान कोई भी भूखा-प्यासा मिले, उसे दे देना चाहिए। ऐसा दान पहले अपने दीन-दुःखी पड़ोसी को देना चाहिए। पास के रहनेवालों का दारिद्र्य दूर करने में सच्ची अनुकम्पा और उदारता का प्रकाश होता है। इससे वाह वाही नहीं मिलती, इसलिए अभिमान को भी अवकाश नहीं मिलता।"

'समीपस्थ दुःखी को देख कर और पीड़ित का अवलोकन कर के ही दया, अनुकम्पा और सहानुभूति आदि हार्दिक भाव प्रकट होते हैं। जो समीपवर्ती दीन-दुःखिया जन पर तो दयादि भावों को नहीं दिखलाता, किन्तु दूरस्थ मनुष्यों के प्रति उनका प्रकाश करता है, उसे दयावान्, अनुकम्पा-कर्त्ता और सहानुभूति-प्रकाशक नहीं कह सकते। ऐसे मनुष्य का दान बाहर का दिखलावा और ऊपर का आडम्बर है। दानादि प्रवृत्तियों का विकाश दीपक की ज्योति की भाँति, समीप से दूर फैलना उचित है।"

दान पर महाराज ने कहा है—"दान उसी को कहते हैं जो विद्या की वृद्धि के कामों में लगाया जाय, कला-कौशल में व्यय हो, दीन, अपाहिज, गेगी, कोढ़ी और अनाथों को जिससे सहायता मिले।"

"यहाँ यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि जो निर्धन जन अन्नादि को देने में असमर्थ हैं, वह दूसरों को क्या दें ? उत्तर स्पष्ट है कि जो जन अन्नादि का दान नहीं कर सकते, वे अपने पड़ोसी आदि को उनके कष्ट-क्लेश में सहायता दें। निर्बलों का पक्ष करें। विपत्ति और आधि-व्याधि ग्रस्त जनों की सेवा करें। पर-पीड़ितों और व्याकुल मनुष्यों पर प्रेम दिखावें। उनको मीठे शब्दों से आश्वासन—शान्ति दें। ये सब दान हैं और आत्मा से सम्बन्ध रखनेवाले दान हैं। ऐसे दान नित्य प्रति निर्धन जन भी कर सकते हैं।'

श्रीदयानन्द जी में परोपकार का भाव तो स्वाभाविक था ही परन्तु अपने चारों ओर दरिद्रों और दुःखियों को देख कर वह और भी उमड़ आया। निर्बलों और अनाथों का आर्त्तनाद उनसे सुना न गया। वे प्राणपण से परोपकार के कार्य में लग गये। उनके जीवन-जहाज का मुख जिस घटना पवन ने परोपकार भूमि की ओर घुमा दिया, वह यह है। एक दिन श्रीमहाराज गङ्गा तीर पर बैठे प्रकृति देवी की स्वाभाविक सुन्दरता निहार रहे थे। उसी समय उनके सामने एक स्त्री मरा हुआ बच्चा हाथ पर उठाये गङ्गा में प्रविष्ट हुई। कुछ गहरे जल में जा कर उसने बालक के शरीर पर लपेटा हुआ कपड़ा उतार लिया और बच्चे की निर्जीव देह को 'हाय हाय' के आर्त्तनाद के साथ पानी में बहा दिया।

स्वामी जी महाराज ने जब देखा कि वह स्त्री बच्चे के कलेवर पर लपेटे हुए कपड़े को धो कर वायु में सुखाती और रोती हुई

घर को जा रही है, तब वे अपने कलेजे को न थाम सके। उन्होंने खेद से कहा कि भारत देश इतना निर्धन और इतना कङ्गाल हो गया है कि माता अपने कलेजे के टुकड़े को तो नदी में बहा चली है, परन्तु वस्त्र को इसलिये नहीं बहा सकी कि उसका मिलना कठिन है और इसके बिना उसका निर्वाह न हो सकेगा ! इस से बढ़कर देश की दरिद्रता का दृष्टान्त मिलना दुर्लभ है। महाराज ने उसी समय वहाँ प्रण किया कि मैं सर्व साधारण की भाषा में व्याख्यान आदि से प्रचार कर के जनता के दुःख दूर करने के साधन उपस्थित करूँगा।

नवाँ बिन्दु ।

सत्य ।

श्रीस्वामी जी महाराज पुरातन सन्तों के सदृश सत्य पर आरूढ़ थे, सत्य के आश्रय पर रात दिन रहते थे। वे समझते थे कि सत्य का त्याग करना किसी वस्तु के अस्तित्व से नकार करना है। इस कारण यह कर्म आत्मवाद के विरुद्ध है—कोरा नास्तिक भाव है। जो लोग दूसरों को धोखा देते हैं, वे जगत् में बुरे समझे जाते हैं। परन्तु जो जन, असत्य कर्म से, सत्यासत्य के साक्षी आत्मदेव को-अपने अन्तरात्मा को—धोखा देते हैं, वे धर्म से कितने विमुख हैं, यह सहज में समझा जा सकता है।

सत्य भाषण पर स्वामी जी यों उपदेश देते हैं—"जैसा भाव अपनी आत्मा में हो, और जो बात असम्भव आदि दोषों से रहित हो, उसी का वाणी से प्रकाश करना सत्य भाषण कहा जाता है। सत्य का निवास मन, वचन और काया इन तीनों में होना उचित है—मनुष्य सत्य सोचे, सत्य बोले और सत्य कर्म ही करे!"

"मनुष्य में मनुष्यपन यही है कि झूठे व्यवहारों को सर्वथा छोड़ कर सदा सच्चे व्यवहारों को ग्रहण करे। सदा सत्य ही की जय होती है। झूठ का अन्त में पराजय ही हुआ करता है। ऋषि जन सत्य ही पर चल कर सत्य के निधान भगवान् को प्राप्त करते हैं। इस कारण सब मनुष्यों को सत्य पर अवश्यमेव आरूढ़

होना चाहिए। यह निश्चित सिद्धान्त है कि सत्य से बढ़ कर धर्म्म का अंग दूसरा नहीं है। वे जन धन्य हैं जो अपने व्यवहारों को सत्य के अनुसार ही चलाते हैं।"

साधारण जनों में यह विचार प्रबल रूप में पाया जाता है कि असत्य के बिना संसार में व्यवहार और व्यापार चलाना महा कठिन है। काम-काज में, लेन-देन में, दुकानदारी के धन्धों में, असत्य का कुछ न कुछ व्यवहार करना ही पड़ता है। इस पर स्वामी जी कहते हैं—"जो जन यह समझते हैं कि सत्य से व्यवहार का नाश होता है और असत्य से ही सिद्धि होती है, वे अज्ञान में हैं। सच तो यह है कि जब किसी के एक भी व्यवहार में जनता को असत्य का पता लग जाता है, तब उसकी सारी आयु की साख मारी जाती है और प्रतिष्ठा नहीं रहती। कोई उस पर विश्वास तक नहीं करता। उस के सारे काम बिगड़ने लगते हैं। और जो मनुष्य मिथ्या कर्म्मों से मुँह मोड़ कर, सब के साथ सदा सत्यपूर्वक व्यवहार करते हैं, सत्य ही बोलते हैं, उन की प्रतिष्ठा जम जाती है। उन को लाभ ही लाभ होता है। हानि तो कभी भी नहीं होती। इस लोक तथा परलोक का सुख सत्य ही से मिलता है। इसलिये सत्य का व्यवहार करने ही को धर्म्म समझना चाहिए। इस से धर्म्म, अर्थ, काम और मोक्ष की प्राप्ति होती है।"

श्रीस्वामी जी की यह दृढ़ धारणा थी कि पूर्व काल में एक सत्य ही सनातन धर्म्म था। मनुष्य-मण्डल के मनोमय आकाश में

नाना मत-मतान्तरों के महामेघों ने अपने अपने प्रचार की धमा-चौकड़ी नहीं मचा रक्खी थी। वह समय सुख और शान्ति का समय था। इस विषय पर श्रीमहाराज के ये वचन हैं—"पूर्व काल में भूगोल भर में वेदोक्त ही एक मत था, उसी में सब की निष्ठा थी। सब मनुष्य एक दूसरे का सुख-दुःख, हानि-लाभ अपने समान समझते थे। तभी संसार में सुख था। इस काल में तो अनेक मतावलम्बी हो जाने से विरोध और दुःख बहुत बढ़ गया है। इस को दूर करना बुद्धिमानों ही का काम है। परमात्मा सब मनुष्यों के मन में सत्य का अङ्कुर ऐसा डाले जिस से मिथ्या मत शीघ्र ही लय हो जायँ। सब विद्वान् जन विवेक-विचार से विरोध को विनष्ट कर परस्पर को आनन्दित करें।"

महर्षि मानते थे कि मिल कर विचार करने से, संवाद में भाग लेने से, भिन्न मतों की पुस्तकें पढ़ने और सुनने से जिज्ञासु को सत्य का स्वयं ज्ञान हो जाता है। मतवाद की दीवार के भीतर ही बंद रहना, हठ-धर्म्मी की रस्सी से अपनी विवेक-बुद्धि को बाँध देना, दूसरे मत के सच्चे महत्व को देखने से भी विचार-नेत्रों को मूँदे रखना, पक्षपात में कूप-मण्डूक बन जाना और क्षुद्र जल-जन्तु की भाँति गागर ही को सागर मान बैठना, ये दोष उन्नति-मार्ग में तीखे काँटे हैं—बड़ी विकट रुकावटें हैं।

उपर्युक्त भावों के बधक श्रीमुख-वचन ये हैं—"जब तक वादी प्रतिवादी बन कर प्रीति-पूर्वक सम्वाद न किया जाय, लेख न लिखे जायँ, तब तक सत्यासत्य का निर्णय नहीं हो सकता। जब

विद्वानों ही में सत्यासत्य का निश्चय नहीं होता, तब साधारण जनों की बात कौन कहे। उनको अन्धकार में फँस कर नाना दुःख भोगने पड़ते हैं। हमारी मनुष्य-जाति का यह मुख्य काम है कि परस्पर प्रीति से मौखिक और लैखिक संवाद द्वारा सत्य की जय और असत्य का क्षय किया जाय। ऐसा न होने से मनुष्यों की उन्नति नहीं हो सकती। सब को चाहिए कि सब मतों की पुस्तकों को देख-भाल और समझ-बूझ कर मतामत को प्रकट करें, लेख लिखें, कहें और सुनें।"

श्रीमहाराज के कार्य-काल में मतों के झगड़े बखेड़े बहुत थे। आर्य मत पर, उसके सिद्धान्तों पर, उस के साहित्य पर और ऋषि-मुनियों पर, साम्प्रदायिक दोषों के कारण, अन्य मतों के पुरोहित बड़े बड़े कटाक्ष करते थे, बेढब लाञ्छन लगाते थे, और तीव्र समालोचना द्वारा सम्वाद-संग्राम के लिये ललकारते थे। श्री दयानन्द जहाँ प्रशान्त सन्त थे, वहाँ परम तार्किक भी थे। वैदिक संस्कृति की संरक्षा का सारा भार भगवान् ने उन्हीं के कंधों पर रक्खा था—उन्हीं को सौंपा था। स्वपक्ष-मण्डन के मैदान में उतर कर, विपक्षियों के घोर आक्रमणों के उत्तर में, उन को पर-पक्ष-खण्डन का कटु कर्तव्य भी पालन करना पड़ा। पर उन्हों ने किया सत्य की निष्ठा से, सत्यासत्य-निर्णय की बुद्धि से।

खण्डन के खड्ग को खड़ा करने का कारण वे यों बताते हैं—"मेरा तात्पर्य किसी को हानि पहुँचाने अथवा किसी का विरोध

करने का नहीं, किन्तु सत्यासत्य का निर्णय करने का है। इसी प्रकार सब मनुष्यों को बर्ताव करना चाहिए। मनुष्य-जन्म का यही फल है कि सत्यासत्य का निर्णय किया और कराया जाय, न कि वाद-विवाद और वैर-विरोध बढ़ाया जाय। मत-मतान्तरों के विवाद से जगत् में जो जो अनिष्ट फल हुए हैं, हो रहे हैं और आगे होंगे, उन को निष्पक्ष विद्वान् जन सुगमता से जान सकते हैं।" "इस मनुष्य-जाति में से जब तक मिथ्या मत-मतान्तरों का वाद-विवाद दूर न होगा, तब तक एक दूसरे को सुख मिलना कठिन है। यदि हम सब, विशेषतया विद्वान् मनुष्य, ईर्ष्या-द्वेष छोड़ कर, सत्यासत्य के निर्णय द्वारा, सत्य का ग्रहण और असत्य का त्याग करना-कराना चाहें, तो कोई बड़ा कठिन काम नहीं है। यह बात तो निश्चित है कि विद्वान् मनुष्यों ही के विरोध ने अबोध जनों को विरोध-जाल में फँसा रक्खा है। इसलिये यदि विद्वान जन अपना स्वार्थ त्याग कर अन्य सब का प्रयोजन सिद्ध करना चाहें तो सभी मतों की एकता हो जाय।"

महाराज अपने विमल विचारों का विकास कर के अपनी सत्य धारणा को फिर यों दिखाते हैं—"यह लेख केवल मनुष्यों की उन्नति और सत्यासत्य के निर्णय के लिये ही लिखा गया है, जिस से सब को सब मतों का थोड़ा बहुत ज्ञान हो जाय, और भलाई-बुराई का वास्तविक स्वरूप दिखाई दे। न कोई झूठ को फैला सके और न कोई सचाई को रोकने का साहस करे। सत्यासत्य का प्रकाश हो जाने पर जिस की इच्छा हो, वह माने; परन्तु

बलात्कार किसी पर भी न होने पावे। क्योंकि कौन अनर्थ हैं जो पक्षपात से जगत् में नहीं किये जाते !"

श्रीस्वामी जी ने सत्य का आश्रय ले कर अहंता और ममता दोनों को त्याग दिया था। वे जिस बात को सत्य समझते, उसी का प्रकाश करते। उन की इस उदारता का ज्वलन्त उदाहरण यह है—"किसी नवीन कल्पना अथवा मत को चलाने का मेरा अभिप्राय लेश मात्र भी नहीं है। मुझे तो सत्यवादी को मानना मनवाना अभीष्ट है। यदि मैं भी पक्षपाती होता तो आर्य्यावर्त्त के किसी एक सम्प्रदाय का आग्रह करने लग जाता। परन्तु मैं तो जैसे पराये देश की अधर्मयुक्त बातों को बुरा समझता हूँ, वैसे ही अपने देश के अधर्म्ममय कर्मों का तिरस्कार करता हूँ। ऐसा करना मनुष्यपन का कर्तव्य मानता हूँ।"

स्वामी जी महाराज धर्म्म-प्रचार में अपनी व्यक्ति को पृथक् रखते थे, ईश्वरादेश का कोई आडम्बर नहीं रचते थे। किसी व्यक्ति के स्वतंत्र विचार को, बुद्धि के विकास को, उत्तरोत्तर उन्नति को अपने विचारों की भित्ति खड़ी कर के नहीं रोकते थे। वे जो सिद्धान्त वा कर्तव्य-कर्म वर्णन करते, उस की पुष्टि में वेद-शास्त्र का प्रमाण देते थे, और ऋषि-मुनियों के वाक्य उद्धृत करते थे।

महाराज के ये वचन उपर्युक्त महत्व के द्योतक हैं:—"मैं अपना मन्तव्य उसी को जानता हूँ जो तीन काल में सब के लिये एक सा मानने योग्य है। जो बातें सब को माननीय हैं, उन्हीं को मानता

हूँ–जैसे सत्य बोलना सब के सामने अच्छा है और झूठ बोलना बुरा है। मेरे विचार में सत्य भाषण, अहिंसा और दया आदि शुभ गुण सब मतों में अच्छे हैं; शेष वाद–विवाद, ईर्ष्या–द्वेष और मिथ्या–भाषणादि कर्म सब मतों में बुरे हैं। जो बातें सब के समीप माननीय हैं उन को मैं मानता हूँ, जैसे सत्य बोलना सब के समीप अच्छा है और मिथ्या–भाषण बुरा है। मत मतान्तरों के परस्पर जो झगड़े हैं, उन को मैं अच्छा नहीं समझता। क्योंकि इन्हीं मत-वादियों ने अपने मतों के प्रचार से मनुष्यों को भ्रम–जाल में फँसा कर एक दूसरे को एक दूसरे का बैरी बना दिया है। इन बुराइयों को दूर कर के सर्वमान्य सत्य का प्रचार करना मेरा प्रयोजन है। सब मनुष्यों को एक मत में ले आना मेरा उद्देश्य है। राग–द्वेष छुड़ा, परस्पर प्रेम–प्रीति–बद्ध कर सब को सुखी बनाना मेरा प्रयत्न और अभिप्राय है।"

स्वामी जी महाराज सत्य का प्रकाश करने के लिये कोमलता की भी बड़ी आवश्यकता मानते हैं। वे लिखते हैं:—"आप सब विरोध के वाद को छोड़ कर आपस में प्रीति के साथ पढ़ो-पढ़ाओ, प्रश्नोत्तर-पूर्वक संवाद करो जिससे आप की सत्य विद्या सदा बढ़ती ही रहे।"

स्वामी जी महाराज इतने सत्यपरायण थे कि संसार की कोई भी शक्ति उन को सत्य–शिक्षा पर से हिला नहीं सकती थी। वे सत्य–कथन में कभी भी भय अथवा संकोच नहीं करते थे। बरेली-निवास में, उन्हों ने, एक दिन ईसाई धर्म्म की सच्ची समालोचना

की। उस व्याख्यान में कमिश्नर आदि अनेक युरोपीय राजकर्मचारी बैठे हुए थे। उस युग में वे अपनी तथा अपने कर्म-धर्म्म की समालोचना सह नहीं सकते थे। इस कारण वे चिढ़ गये। कमिश्नर ने अपनी अप्रसन्नता का प्रकाश, धीमी धमकी के साथ, स्वामी जी के एक प्रेमी के आगे कर ही तो दिया। स्वामी जी को भी कमिश्नर महाशय की कोप-कला का पता लग गया। अगले दिन व्याख्यान में, कमिश्नरादि अनेक युरोपीय जनों की उपस्थिति में श्रीमहाराज गरज कर बोले—"लोग मुझे सम्मति देते हैं कि सत्य का प्रकाश न कीजिये। इस से कमिश्नर रुष्ट होगा, गवर्नर बिगड़ जायगा, परन्तु मैं तो किसी भी शक्तिशाली मनुष्य के भय से सत्य का प्रकाश—प्रचार—त्याग नहीं सकता। इस कर्तव्य-कर्म को करते मैं किसी का भी डर नहीं मानता। मेरा यह दृढ़ विश्वास है कि आत्मा अमर और अविनाशी है। यदि कोई ऐसा माई का लाल यहाँ हो जो कहे कि मैं आत्मा का छेदन-भेदन कर सकता हूँ, उस के टुकड़े बना सकता हूँ, तब ही मैं सोचूँगा कि सत्य का प्रकाश करूँ वा न करूँ। परन्तु इस क्षण-भङ्गुर देह की रक्षा के लिये, चार दिनों के जीने के लिये मेरा सत्य के प्रचार को बंद करना सर्वथा असम्भव है।" उन के इन ओज-भरे वाक्यों को सुन कर सभी सुननेवाले सन्न से हो गये। मन ही मन सभी ने उन की निर्भयता का, सत्य-निष्ठा का और वीरता का लोहा माना।

सत्य में निष्ठा रखनेवाला मनुष्य कैसा होता है, इस का उपदेश वे इस प्रकार करते हैं:—"जो मनुष्य सत्य के पालन करने

का दृढ़ संकल्प कर लेता है, वही उत्तम गुणों को धारण करता है। जब मनुष्य उत्तम गुणों को धारण कर के प्रतिष्ठा के योग्य बन जाता है, तब प्रतिष्ठा पा कर उस का विश्वास सत्य में और भी अधिक दृढ़ हो जाता है। इस विश्वास से उस पर सच्चाई का रंग अधिकाधिक बढ़ता और चढ़ता चला जाता है।"

दसवाँ बिन्दु ।

यज्ञ, देवता और ऋषि आदि ।

श्रीस्वामी जी महाराज यज्ञादि सुकर्मों में बड़ी श्रद्धा रखते थे। इन का प्रचार करने में वे सदा तत्पर रहते थे। यज्ञ के विषय में उन का उपदेश यह है:—"यज्ञ शब्द के तीन अर्थ हैं—देव-पूजा, संगति-करण और दान। देव शब्द पर विचार करने से ज्ञात होता है कि इस के अर्थ प्रकाशक-स्वरूप, द्योतक–प्रकाशक–के हैं। वेद-मन्त्रों को भी देव कहते हैं, क्योंकि इन से विद्याओं का प्रकाश होता है। देव शब्द का अर्थ परमेश्वर भी है। परमात्मा ही से सूर्यादि प्रकाशक पदार्थ प्रकट हुए हैं। ज्ञानी जन भी अनेक गुणों और विद्याओं के प्रकाशक होते हैं। इसलिये देव शब्द विद्वानों के लिये भी प्रयुक्त होता है।"

यज्ञ में परमेश्वर और मन्त्रों ही को देव माना है। वैसे तो मुख्य देव एक ईश्वर ही है। तेंतीस देवताओं का जहाँ वर्णन है वहाँ इन से तात्पर्य्य है—अग्नि, पृथिवी, वायु, अन्तरिक्ष, आदित्य, द्यौः, चन्द्रमा और नक्षत्र ये आठ वसु हैं। प्राण, अपान, व्यान, समान, उदान, नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त, धनञ्जय और ग्यारहवाँ जीवात्मा, ये ग्यारह रुद्र हैं; बारह आदित्य, इन्द्र अर्थात् विद्युत् और प्रजापति अर्थात् यज्ञ—ये ३३ देवता हैं।"

महाराज के मत में देव शब्द के अर्थ माता पितादि भी हैं।

उन का आदर-सत्कार, पूजन अर्चन देव-पूजा है। इस पर वे कहते हैं—"देवता दो प्रकार के हैं—एक मूर्तिमान और दूसरे अमूर्त्ति-मान्। माता, पिता, आचार्य और अतिथि ये चार मूर्त्तिमान् देवता हैं। पाँचवाँ देवता परब्रह्म परमेश्वर है और वह अमूर्तिमान है। पृथ्वी आदि जड़ वस्तुओं में देवपन केवल व्यवहार में—कहने और वर्ताव में—माना जाता है। माता, पिता, आचार्य्य और अतिथि आदिकों में देव शब्द का उपयोग व्यवहार और परमार्थ का प्रकाश करने में भी होता है। मन और इन्द्रियों के लिये भी देव शब्द आया है। वहाँ इस शब्द का उपयोग व्यवहार और परमार्थ दोनों में होता है। पर उपासनीय केवल परमात्मदेव ही हैं।"

मूर्त्तिमान देवताओं का वर्णन करते हुए महाराज फिर उप-देश देते हैं:—

"प्रथम तो पूजनीया मूर्त्तिमती देवता माता है। सन्तानों को चाहिए कि माता की सेवा-शुश्रूषा तन मन-धन से करें। उसे सब प्रकार प्रसन्न रक्खें। उस का अपमान कदापि न करें। दूसरा देव पिता है। उस का भी पूजन माता के समान होना चाहिए। तीसरा देव विद्या का दाता आचार्य्य है। तन-मन-धन से उस की सेवा करना शिष्यों का कर्तव्य है। चौथा देव वह अतिथि है जो विद्वान, धार्म्मिक, सरल और सब का हितकारी हो; जो सर्वत्र भ्रमण कर के सत्योपदेश द्वारा सब को सुख देने का प्रयत्न करे। ऐसे सन्तों और सज्जनों की सेवा करना पुण्योपार्जन का साधन है। पाँचवाँ देव पत्नी के लिये पति है और पति के लिये पत्नी भी

देवता है। ये पाँच मूर्त्तिमान देवता हैं जिन के कारण मनुष्य का पालन-पोषण होता है, उससे उत्तम आचार-विचार की शिक्षा मिलती है, सदुपदेश और विद्या की प्राप्ति होती है। परमात्मा को प्राप्त करने की यही पाँच सीढ़ियाँ हैं।"

"यज्ञ शब्द का दूसरा अर्थ संगति-करण है, जिस का तात्पर्य है सन्तों, सज्जनों और गुणी-ज्ञानी जनों का सत्संग करना, उन के वचनों और विचारों से लाभ उठाना, और दान-दक्षिणा से उन की सेवा-भक्ति करना।"

श्रीस्वामी जी नाम मात्र के साधु-सन्तों और गुरुजनों के संग का उपदेश नहीं देते थे। उन के विचार में तो साधु-सन्त, ब्राह्मण और गुरु आदि व्यक्तियों में ज्ञान, ध्यान, जप-तप और परोपकार आदि शुभ कर्मों का विशेष होना परमावश्यक है। इन के बिना कोरे नाम किसी काम के नहीं और नितान्त निरर्थक हैं। इस विषय में स्वामी जी का उपदेश यह है:—

"सज्जन, विद्वान्, धार्मिक और परोपकारी जनों को सन्त कहते हैं। साधु उन को कहा जाता है जो जन धर्म्मयुक्त और उत्तम कर्म करें, सदा परोपकार-परायण रहें, विद्वान् और गुणवान हों, सत्योपदेश से मनुष्यों का हित-साधन करें। जब ऐसे सन्त जन सत्योपदेश करते हुए विचरण करते हैं, तभी अन्धकार की परम्परा नष्ट हो कर प्रकाश की परम्परा चला करती है।"

स्वामी जी शान्त दान्त जनों को साधु सन्त कहा करते थे। क्रोध, लोभ, मोह और मत्सर में फँसना सन्त-धर्म के विरुद्ध सम-

करते थे। एक दिन की बात है कि उनके पास दो साधु आये और वार्त्तालाप में कहने लगे कि हमने क्रोध आदि को जीत लिया है। श्री स्वामी जी ने कहा कि महात्मन्, क्रोध आदि को जीतना कोई सुगम कार्य नहीं। इनके विजय होने का अभिमान न कीजिये किन्तु इन्हें विजय करने में यत्नशील होते रहिये। उन मुनियों ने महाराज की अनुमति को न माना। जब वे विदा हो कर बाहर आँगन में आये तो स्वामी जी के एक कर्मचारी से उनकी तू तू मैं मैं हो गई। फिर क्या था, उनकी कलह-कला इतनी चमकी कि वे मार-पीट पर उतर आये। उनकी परस्पर की तर्जना गर्जना को सुन कर स्वामीजी बाहर आये और उन दोनों मुनियों को भीतर ले जा कर समझाने लगे—"महात्मन, मैंने तो पहले ही कहा था कि आप इस बात का अभिमान न कीजिये कि हमने क्रोधादि को जीत लिया है। हाँ, अभ्यास करते रहिये, ये अन्त में उपशम अवश्य हो जायँगे। परन्तु उस समय आप नहीं मानते थे। अब तो आप स्वयं जान गये कि इन दोषों को दमन करना कितना दुष्कर है!" उन साधुओं ने स्वामी जी के चरण छू कर कहा कि महाराज आप का कथन सर्वथा सत्य है। आगे हम अहंकार कदापि न करेंगे और आप के उपदेश पर चलते रहेंगे।

स्वामी जी ने संन्यासी सन्तों का कर्त्तव्य वर्णन करते हुए कहा है—"तीन एषणाओं को त्याग कर निष्पक्ष भाव से वैदिक धर्म का उपदेश करना संन्यासियों का मुख्य कर्म है। जैसे गृहस्थ लोग अपने व्यवहार और स्वार्थ में परिश्रम करते हैं, संन्यासी

सन्त परोपकार-कर्म में उनसे भी अधिक परिश्रम करें, तभी आश्रमों की उन्नति हो सकती है। नहीं तो व्यर्थ पर्यटन में काल बिताना, दण्ड-कमण्डलु उठाये स्थान स्थान में चक्कर लगाते फिरना, ईर्ष्या, द्वेष, निन्दा और दुष्कर्मों में फँसे रहना, और वेश मात्र से अपने आप को कृतकृत्य मान लेना जीवन को व्यर्थ गँवा देना है, जगत् में निष्फल निवास करना है।"

स्वामी जी महाराज यह मानते थे कि संन्यासी सन्तों के लिये निस्पृही, त्यागी, जितेन्द्रिय और भगवद्भक्त होना परमावश्यक है। उन्हों ने संन्यास-धर्म्म का उपदेश देते हुए श्री सहजानंद जी से कहा था कि संन्यास ले कर वासना-जाल को काट देना चाहिए। इन्द्रियदमन करना अति उचित है। संन्यासी सन्तों को चाहिए कि प्राणायाम के पानी से अपने मन की मैल धो डालें; प्रणव पवित्र में चित्त को लगावें: जप-आराधना के साधन से अपनी आत्मा को उन्नत करें; सदा लोक-हित के कामों में भाग लें; सर्वत्र धर्म्मोपदेश ही का डंका बजावें; और पक्षपात तथा अन्याय-अनीति में न फँसें।

श्रीस्वामी जी साधुओं और ब्राह्मणों के विषय में यह भाव रखते थे—"ब्राह्मण और साधु अपने उत्तम गुण-कर्म-स्वभाव से होते हैं। परोपकार उनका परम कर्म है। ब्राह्मण और साधु के नाम से उत्तम जनों ही का ग्रहण करना उचित है। यदि कोई उत्तम साधु-ब्राह्मण न होता तो यवनों और ईसाइयों के आक्रमणों से वेदादि सच्चे शास्त्रों को कौन बचाता? इन का पठन-पाठन कौन रख

सकता? आज तक आर्यों में शास्त्रों की प्रेम-भक्ति को बनाये रखने-वाले ब्राह्मण और साधु-सन्त ही हैं।"

महर्षि गुरु-पदवी के अधिकारी भी गुणी जनों ही को मानते थे। उन की सम्मति में कान में फूँक लगानेवाले, डेरेदार, मठाधीश और आडम्बरी महन्त गुरु नहीं हैं! गुरु तो वे कहे जा सकते हैं जो शिष्य के अन्तःकरण से अज्ञान की कालिमा का मार्जन कर डालें, उसे आचार-विचार सिखा कर धार्मिक जीवन प्रदान करें, और उस के मनोमस्तक में विकास की ज्योति चमका दें। ऐसे गुरु जन कौन हैं, इस पर महाराज के वाक्य ये हैं—"गुरु तो माता, पिता, आचार्य्य और अतिथि हैं। उन्हीं से विद्या सीखनी और उन्हीं की सेवा करनी उचित है।"

श्री स्वामी जी ने यज्ञ का तीसरा अर्थ दान बताया है। उन्हों ने कहा है—"यज्ञ का तीसरा अर्थ दान है। सब दानों में ज्ञान का दान अविनाशी और प्रधान है। अन्न, वस्त्र आदि के दान विद्या-दान की बराबरी तो नहीं कर सकते, परन्तु इस के सहायक अवश्य हैं। वे भी दान कहे जाते हैं।"

दान देनेवाली नर-नारियों के कितने प्रकार हैं, इस पर महाराज के ये वाक्य हैं—

"दाता तीन प्रकार के होते हैं—उत्तम, मध्यम और निकृष्ट। जो दाता देश, काल और पात्र को देख कर सत्य विद्या की वृद्धि, सच्चे धर्म्म की उन्नति और परोपकार के कार्यों के लिये दान दे, वह उत्तम दाता कहा जाता है। जो कीर्ति और स्वार्थ-सिद्धि के लिये

दान करे, वह मध्यम कोटि का दाता होता है। निकृष्ट कोटि का दाता वह है जो देते समय देश, काल और पात्र का कुछ भी विचार न करे और अपना या पराया हित किंचिन्मात्र भी सिद्ध न कर सके, अंधाधुन्ध दान दे, अपमान और तिरस्कार से दे, भांड़ धूर्त को दे कर तथा कुव्यसनों में लगा कर धन खोये।"

श्रीस्वामी जी ऐसे जनों को दान देने के लिये कहते थे जो सुपात्र हों, दीन हों, और असमर्थ हों। कुपात्र को अन्नादि देने से लाभ के स्थान में आलस्य और प्रमाद की वृद्धि से हानि ही होती है। सुपात्र के गुण-कर्म वर्णन करते हुए उन्हों ने यह उपदेश दिया है—"जो जन ब्रह्मचारी, जितेन्द्रिय, वेद-पाठी, सुशील, सत्यवादी, पुरुषार्थी और परोपकार-परायण हैं, वे सब सुपात्र हैं। उदार जन, विद्या और धर्म्म की उन्नति करनेवाले, प्रशान्त, निन्दा-स्तुति और हर्ष-शोक को समान समझनेवाले पवित्र पात्र हैं। वे जन भी दान के पात्र हैं, जो निर्भय और उत्साही हैं, जो योगी, ज्ञानी और ईश्वराज्ञा का पालन करनेवाले हैं, जो न्याय-नीति-युक्त और रीति-भाँति पर चलते हैं। जो उपदेशक सत्योपदेश देते हुए विचरण करते हैं, जो वेद-शास्त्र का ज्ञान-दान देते और जिज्ञासुओं के सन्देह मिटाते हैं, वे भी सच्चे सुपात्र हैं। जो सज्जन अपने समान सब का सुख-दुःख और हानि-लाभ समझते हैं, हठ-दुराग्रह से दूर रहते हैं, मान को विष समान मानते हैं, धर्म्म पर चलते हुए अपमान को अमृत तुल्य जानते हैं, यथालाभ ही में सन्तोष करते हैं और किसी की निन्दा चुगली करने के कीचड़ को नहीं

छूते, वे सुपात्र समझे जाते हैं। जो वीतराग, सत्य मानी, सत्य-वादी, सत्यकारी, सरल-स्वभाव, गम्भीराशय और सत्पुरुष हैं, वे भी उचित पात्र हैं। जो सज्जन जनहित में रात-दिन लगे रहते हैं, पराये सुख के लिये समय पर अपने प्यारे प्राणों तक को समर्पण कर देने के लिये तैयार रहते हैं, जो धार्मिक और सदा-चारी हैं, वे सब सुपात्र समझे जाने चाहिएँ। परन्तु दुर्भिक्ष में, दुःख में, दुर्दिन की पीड़ा में, आपत्काल और व्याधि-विपत्तियों में, सभी जन अन्न-जल, औषध और वस्त्रादि के अधिकारी हुआ करते हैं। ऐसे संकट के समय में पात्रापात्र का विचार करना उचित नहीं है।"

महाराज उन महापुरुषों को ऋषि मानते थे जो योगिजन और आत्म-दर्शी हों, जो उसी का वर्णन करें जिसका भाव उन्हों ने साक्षात् कर लिया हो, और जो यथार्थ वक्ता और आप्त हों। जो महात्मा वेद-मन्त्रों के भाव का अनुभव कर के जनता को कल्याण-कामना के लिये उस का उपदेश करें—उनका प्रकाश करें—वे ऋषि-कोटि में गिने जाते हैं। तत्वदर्शियों को भी ऋषि कहा जाता है। ऐसे सन्त जनों के बनाये हुए ग्रन्थों को, दार्शनिक शास्त्रों को, स्मृति पुस्तकों को और आत्म-तत्त्व-निरूपण के वाक्यों तथा गीतों के संग्रह को आर्ष ग्रन्थ कहा जाता है। ऐसे आर्ष ग्रन्थ भी धर्म्म-तत्व के बोधक होने से धर्म में प्रमाण माने जाते हैं।

ग्यारहवाँ विन्दु ।

सम्बन्ध–धर्म्म ।

परमहंस श्री दयानन्द जी व्यावहारिक धर्म्म के एक उत्तम भाग—सम्बन्ध-धर्म्म–का पालन करना आवश्यक बताया करते थे । इस विषय पर वे प्रभावशाली भाषण दिया करते थे । सम्बन्ध-धर्म्म का जिस ने पालन नहीं किया, उस में जिस ने त्रुटि दिखाई, वह दूसरे धर्म्मों में पूरा नहीं उतर सकता । यह धर्म्म तो दूसरे धर्म्मों के स्वर्गीय मन्दिर में जाने के लिये द्वार है । इसी से मनुष्य के आचार-विचार का, धैर्य्य-धारणा का, व्रत-नियम का, कर्तव्याकर्तव्य का, यहाँ तक कि उस के अन्तरङ्ग बहिरंग का पता लगता है । सम्बन्ध-धर्म्म के संग्राम-क्षेत्र ही में सत्यता, वीरता, निर्भयता, उदारता और विनीतता आदि दैवी गुण सम्पादन किये जाते हैं, तथा दुर्गुण-रूप दैत्यों पर विजय लाभ होती है ।

श्रीमहाराज सम्बन्ध-धर्म्म का वर्णन करते हुए उपदेश देते हैं कि पुत्रों के साथ पिता का जो सम्बन्ध है, उस का पालन करने के लिये पिता को चाहिए कि अपनी सन्तान को सब प्रकार से योग्य बनावे । वे ही पितृ-जन उत्तम हैं जो सन्तानों को, अपने तन-मन-धन को भी समर्पण कर के, उत्तम विद्या और व्यवहार सिखाते हैं, उन को सदा श्रेष्ठ बनाने का यत्न करते हैं, आस्तिकता का और धर्म्म का उपदेश देते हैं । इस सम्बन्ध का पालन करने

के लिये माता-पिता का कर्तव्य है कि सन्तान को विनय-धर्म्म का उपदेश करें, सुशीलता की शिक्षा दें और शिष्टाचार भी सिखावें। उन में कुसङ्ग, कुव्यसन और दुर्गुण न बढ़ने दें। जो माता-पिता अपने पुत्र-पुत्रियों को गाली देना सिखाते हैं, अपमान और निरादर की शिक्षा देते हैं, लाड-प्यार में हठी और दुराग्रही बनाते हैं, पढ़ने लिखने से वंचित रखते हैं, वे सन्तानों के पक्के शत्रु हैं।

आचार्य्य का—धर्म्म-गुरु का—जो बर्ताव शिष्य के साथ होना चाहिए, उसका श्री स्वामी जी ने इस प्रकार वर्णन किया है—"आचार्य शिष्यों को ऐसी शिक्षा दे जिससे उसके शिष्यों में सत्यता, सरलता और सुकोमलता आदि गुण आ जायँ। वे आज्ञाकारी बनें, क्रोधी, हठीले, अहङ्कारी और व्यर्थवादी न हों, सभ्य और सुयोग्य कहलावें, नम्रता का त्याग न करें, उपकारी जनों का आभार तथा कृतज्ञता मानें, पुरुषार्थी, साहसी और परोपकारी बने रहें। इन्द्रिय-दमन और सदाचार रूप शुभ कर्मों का सदा सेवन करें। शिष्य के साथ आचार्य का प्रेम अपार होना चाहिए।"

सन्तानों और शिष्यों का उत्कृष्ट कर्त्तव्य है कि अपने पवित्र सम्बन्धों के पालन करने में कभी भी त्रुटि न दिखावें। गुरुजनों के विनीत अनुव्रती बनें। उनका सदा प्रिय आचरण करें और कथन मानें। अपना सर्वस्व लगा कर भी उन को सुख तथा सन्तोष दें।

भाई-बहनों के परस्पर के सम्बन्ध-धर्म्म को पालने के लिये बन्धु-भावना, हितकामना, आदर-सम्मान और प्रेम-प्रीति होनी चाहिए। ईर्ष्या, द्वेष और विरोध न हो। एक दूसरे को सहायता

देने में संकोच न करें। सीधा, सरल बर्ताव और कर्तव्य-पालन भ्रातृ-भाव के महावृक्ष का मूल है।

सांसारिक सम्बन्धों में पति-पत्नी का सम्बन्ध एक पवित्र और अत्युत्तम सम्बन्ध है। इसके पालन करने में बड़ी सावधानी रखनी चाहिए। इस सम्बन्ध-सूत्र को सुदृढ़ रखने के लिये स्वामी जी ने यों उपदेश दिया है—"पति पत्नी में से कोई भी कभी किसी का अप्रियाचरण न करें। जिस व्यवहार से एक दूसरे को कष्ट हो, उस को छोड़ दें। एक दूसरे के लिये सच्चे और सरल-स्वभाव हों। परस्पर ऐसा बर्ताव करें कि सुख और सुप्रसन्नता का अंत न आने पावे। वे सेवा-धर्म्म के पालन करने में तत्पर रहें। पुरुष का कर्तव्य है कि वस्त्राभरण आदि वस्तुओं से पत्नी को सुप्रसन्न रक्खे। घर के सारे काम-काज उसे सौंप दें। पत्नी का भी यह कर्तव्य है कि पति को खान-पान और प्रेम-भाव से सुखी बनावे, जिस से सन्तान उत्पन्न हो और सुख बढ़ता चला जाय।"

"जिस कुल में—घर में—पति-पत्नी कलह नहीं करते किन्तु एक दूसरे से प्रसन्न और सन्तुष्ट रहते हैं, निश्चय रूप से, उसी कुल में कल्याण बना रहता है। परन्तु परस्पर का यह सम्बन्ध-धर्म्म तभी स्थिर रह सकता है जब ब्रह्मचर्य्य-धारण-पूर्वक विद्या ग्रहण कर के युवा अवस्था में विवाह किया जाय। और हो भी वह एक दूसरे की प्रसन्नता से—स्वयंवर की रीति से। ऐसे विवाहों ही से सम्बन्ध-धर्म पलते हैं और उत्तम सन्तानें होती हैं। स्वयम्वर रूप प्रेममय विवाहों से तो जो सन्तानें होंगी, वे शूर वीर ही होंगी, प्रत्येक

प्रकार से योग्य होंगी। ऐसे विवाहों की सन्तान के समान दूसरे विवाहों की सन्तान लाखों में कोई एक निकले तो निकले। स्वयंवर-सन्तान तो अपने बल से, पराक्रम से, धर्म्म-भाव से, सुशीलता से, शुभ गुणों से और बुद्धि के प्रभाव से अपने कुल की कीर्त्ति को चारों ओर फैला देती है।"

पड़ोसी को पड़ोसी के साथ और स्वामी को सेवक के साथ सम्बन्ध कैसे निभाना चाहिए, इस विषय में श्री स्वामी जी के वचन ये हैं—"मित्रों को परस्पर अपने आत्मा के समान, प्राणों के समान बर्तना चाहिए। सत्य व्यवहार और धर्म्म-भाव में कभी भी भेद-भावना न आने दें। अपने पड़ोसियों को अपनी देह के तुल्य जानना चाहिए। सभ्य मनुष्य वैसा ही हित उनका करे, जैसा अपनी काया का करता है। स्वामी सेवक के साथ ऐसा बर्ताव करे जैसा वह अपने अङ्गों के साथ करता है। उस की रक्षा करना उस का धर्म्म है। सेवक जन भी अपने स्वामियों को अपना जान सदा प्रसन्न रक्खें और उनका हित चाहें।"

सभा-समाजों में सम्मिलित हो कर एक दूसरे से उचित व्यवहार करना बड़ा आवश्यक हुआ करता है। सभा के सभासदों की भाषा सुकोमल, सभ्य और मीठी होनी चाहिए। सभा में गँवारू-पन शोभा नहीं देता। संवादों में भी सत्य और सरलता का होना उचित है। अपने पक्ष का पोषण तो कोई भले ही करे, पर अधिक खींचातानी अच्छी नहीं होती। इस से वैमनस्य ही बढ़ा करता है। श्री महाराज सभा के सम्बन्ध में यों कहते हैं:—

"जब कोई जन सभा में जाय तो पहले इस बात का सुदृढ़ संकल्प कर ले कि आज मुझे सत्य ही की स्थापना करनी है. मिथ्या पक्ष को गिराना है। सभा में किसी बात का अभिमान न करे. न अपने आप को बड़ा माने। संवाद में यदि दूसरा सभासद उस की बात का—उसके पक्ष का—खण्डन कर दे, तो बुरा न माने। क्रोध न करे और न अप्रसन्नता ही दिखावे। अपनी प्रकृति में ओछापन न आने दे। दूसरे के कथन को—पक्ष को—ध्यान-पूर्वक सुने। उस में जितना अंश ठीक न जँचे, उस का प्रतिवाद करे: और जो सत्य हो, उसे प्रसन्नता से स्वीकार कर ले। सभा में बड़ाई-छोटाई का विचार नहीं रखना चाहिए। व्यर्थ वाद करना अथवा मिथ्या पक्ष पर डट जाना सभा के नियमों के विरुद्ध है। परन्तु सत्य पर स्थिर रहना चाहिए। सभा में ऐसी रीति से आवे-जाय और उठे-बैठे जिस से वह किसी को बुरा न लगे, और अशिष्टता न जान पड़े। सब के संवाद में, सभा के कार्य्यों में, सदा सर्वहित पर दृष्टि रक्खे। सज्जनों से मेल-जोल बढ़ावे। अपने सच्चे प्रणों को—अपनी प्रतिज्ञाओं को—पूर्ण करने में कभी आलस्य और प्रमाद न करे।"

सभाओं में बहुत से वाद-विवाद इस लिये भी हुआ करते हैं कि कई सभासद अपना तो सुधार नहीं करते, परन्तु दूसरों की समालोचना करने में बड़े वीर बने रहते हैं। अधिक सुधार तो स्वदोष देखने ही से होता है। इस पर स्वामी जी महाराज कहते हैं—"ऐसे भी बहुत मनुष्य हैं जिन को अपने दोष तो नही दिखाई पड़ते, परन्तु दूसरों के दोष देखने में वे सदा सुसज्जित रहते हैं। यह

बात न्याय की नहीं है। मनुष्य को चाहिए कि पहले अपने दोषों को देख-भाल कर निकाल दे, तब दूसरे के दोषों और दुर्गुणों पर दृष्टि डाले। जो कोई पक्षपात-वश हो कर देखता है, उसे न तो अपने दोष दृष्टिगोचर होते हैं और न पराये ही।"

प्रेम-पूर्वक सुनने–सुनाने का जो सम्बन्ध है, उसे दत्त चित्त हो कर पालन करना चाहिए। सत्संग में बैठ कर शास्त्रों के उपदेश सुनने से जो लाभ होता है, उस का वर्णन महाराज ने इन शब्दों में किया है—"जैसे मनुष्य पढ़ने से पण्डित होता है, वैसे ही सुनने से बहुश्रुत हो जाता है। बहुश्रुत सज्जन यदि सुनी हुई बातें दूसरों को न समझा सके, तो भी आप तो उन से अवश्य लाभ उठाता है। मनुष्य में सत्यासत्य को निर्णीत करनेवाली बुद्धि विद्यमान् है। इस कारण सुने हुए ज्ञान का उपयोग कर वह सन्मार्ग को पा सकता है।"

बारहवाँ विन्दु ।

राजनीति के कुछ सूत्र और भारत-भक्ति ।

महर्षि दयानन्द जी ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक सत्यार्थ-प्रकाश में राजधर्म्म का भली भाँति वर्णन किया है, राजा के गुण-दोषों को दिखाया है। उन्हों ने मुरादाबाद आदि नगरों में राजा-प्रजा के धर्म्मों का वर्णन किया। स्थान स्थान पर राज-नीति के तत्त्वों पर व्याख्यान दिये। बुलन्दशहर के कलक्टर को उन्हों ने उपदेश दिया कि आप पूरा समय लगा कर प्रजा का पालन किया करें, यही राज-धर्म्म है। अपने प्रेमी देशीय राजाओं को भी वे राष्ट्र-नीति का उपदेश दिया करते थे। महाराज स्वराज्य-सुधार को, राष्ट्र-उद्धार को और गिरी हुई जाति के उठाने को एक प्रकार का धर्म्म-कार्य ही मानते थे। परमहंस जी के कार्यकाल में भारतवर्ष पर भय-नीति और दमन-नीति का राज-चक्र चल रहा था। सैनिकों के उठने के पश्चात् राजपुरुष-शासन ने प्रजा को निःशस्त्र बना दिया था। यहाँ का व्यापार-व्यवसाय सब नष्ट हो चुका था। आर्य्यावर्त के भविष्य पर निराशा की, निर्बलता की, कायरता की, निर्धनता की और सब से बढ़ कर भयङ्कर दुर्भिक्ष की महा अँधेरी रात्रि छा गई थी। भय-नीति और दमन-नीति के शासन में कोई राष्ट्र-सुधार का नाम तक न लेता था। इस विषय में देश के कोने कोने तक चुप्पी छाई हुई थी। ऐसे विषम समय में सारे भारत-खण्ड में एक श्री दयानन्द

जो ही थे जो पूरी दमन-नीति के दिनों में राष्ट्र सुधार की चर्चा चलाते, जातीय जीवन का उपदेश देते, प्रजा-पीड़ा की चिन्ता करते, लोक-हित की हत्या के विरुद्ध बोलते और मनुष्य-मात्र के स्वभावसिद्ध अधिकार—स्वराज्य—का सुरीला गीत गाते थे। ऊपर कहे वाक्यों का भाव परमहंस जी के इन वचनों से प्रकट होता है :—

"अब अभाग्योदय से और आर्य्यों के आलस्य से, प्रमाद से, परस्पर के विरोध से, अन्य देशों में राज्य करने की कथा तो क्या कही जाय, आर्य्यों का तो इस समय आर्य्यावर्त में भी अखण्ड, स्वतंत्र, स्वाधीन और निर्भय राज्य नहीं है। जो कुछ है भी, तो वह भी विदेशियों के पदाक्रान्त हो रहा है। थोड़े से राजा ही स्वतंत्र हैं। जब दुर्दिन आता है, तब देश-वासियों को अनेक प्रकार के दुःख भोगने पड़ते हैं।"

"कोई कितना ही (यत्न) करे. जो स्वदेशीय राज्य होता है वह सर्वोपरि होता है। (यदि) मत मतान्तर के आग्रह से रहित, अपने-पराये के पक्षपात से शून्य, प्रजा पर माता-पिता के समान कृपा करनेवाला, न्याय और दया से युक्त भी विदेशियों का राज्य हो, तो भी पूर्ण सुखदायक नहीं हो सकता। (क्योंकि) भिन्न भिन्न भाषा का, पृथक् पृथक् शिक्षा का और अलग व्यवहार का विरोध छूटना अति दुष्कर है। बिना इस के छूटे एक दूसरे का पूरा उपकार होना, अभिप्राय सिद्ध होना कठिन है।"

श्रीस्वामी जी महाराज ने सत्यार्थ-प्रकाश के विशेष समुल्लास में

नों स्वराज्य का वर्णन किया ही था, परन्तु भारत देश की दीन दशा, पराधीन प्रजा की अवस्था और जनता की अधोगति उन के विमल चित्त-दर्पण पर ऐसी प्रतिबिम्बित थी कि वे परम प्रभु से प्रार्थना करते हुए भी अपने हार्दिक उद्गारों को इन शब्दों में प्रकाशित कर गये हैं–"(हे प्रभु, मैं) चक्रवर्ती राज्य और विज्ञान-रूप को प्राप्त होऊँ। जो आप को आत्मा आदि दान करता है, आप उस को व्यावहारिक और पारमार्थिक सुख अवश्य प्रदान करते हो (परमेश्वर !) आप कृपया हम को कोमलता आदि गुणयुक्त चक्रवर्ती राजाओं की नीति दान दीजिये। सत्य विद्या से युक्त सुनीति प्रदान कर के (हमें) शीघ्र साम्राज्याधिकारी बनाइये।"

'हे ईश्वर ! हमारी सहायता कीजिये, जिस से सुनीतियुक्त हो कर हमारा स्वराज्य बहुत ही बढ़ जाय। घोड़े आदि श्रेष्ठ पशुओं से और चक्रवर्ती राज्य के ऐश्वर्य्य से हमारे काम को पूर्ण कीजिये। हमें चक्रवर्ती राज्य और साम्राज्य-धन सुख से प्रदान कीजिये। (हम) अन्योन्य की प्रीति से, परम बल और पराक्रम से निष्कण्टक चक्रवर्ती राज्य भोगें।'

'मुझ को ..... सर्वोत्कृष्ट विद्या और चक्रवर्ती राज्यादि परमैश्वर्य, जो स्थिर है, परम सुखकारक है, उस को प्राप्त कराइये। हम आप के पुत्र, आप की कृपा से, उत्तम सुख को लाभ करें। जब तक जीयें, तब तक सदा चक्रवर्त्ती राज्यादि सुख से सुखी रहें। हे महाराजाधिराज परब्रह्मन्, अपनी कृपा से हमें अखण्ड चक्रवर्त्ती राज्य के लिये शौर्य्य, धैर्य्य, नीति, विनय, पराक्रम और बल आदि

उत्तम गुणों से पुष्ट कीजिये। हमारे देश में अन्य देशवासी राजा कभी न हों तथा हम लोग कभी पराधीन न हों।"

श्री स्वामी जी आर्य्यावर्त्त देश के महत्व पर इतने मोहित थे कि इस के सौन्दर्य्य को वे तुलनातीत समझते थे। इस भाव का प्रकाश उन्हों ने इन वचनों में किया है—"यह आर्य्यावर्त्त देश ऐसा (सुन्दर) है कि भूगोल भर मे इस के सदृश दूसरा देश दिखाई नहीं देता। इसी कारण, भारत-भूमि का नाम स्वर्ण-भूमि है, क्योंकि यही भूमि स्वर्णादि रत्नों को उत्पन्न करती है। सृष्टि के आदि में, आर्य्य जन इसी लिये इस में आ कर बसे थे। भूगोल में जितने भी देश हैं—उन के जितने भी निवासी हैं—वे सारे इसी देश की प्रशंसा करते हैं, इसी से आशा रखते हैं। पारस मणि की बात सुनी जाती है, सो सच्ची नहीं है; परन्तु यह आर्य्यावर्त्त देश ही सच्चा पारस मणि है, जिस को लोहे के सदृश दरिद्र विदेशी छूते ही सुवर्ण–धनाढ्य–हो जाते है।" "सृष्टि (के आदि) से महाभारत पर्य्यन्त सब सार्वभौम चक्रवर्त्ती राजा आर्य कुल ही में हुए थे। अब उन के सन्तानों के अभाग्योदय से (ये) राजभ्रष्ट होकर विदेशियों के पादाक्रान्त हो रहे हैं।"

स्वामी जी महाराज गो आदि पशुओं की रक्षा का वर्णन करते हुए भारतवासियों की दुःख-वृद्धि का कारण यों बताते हैं— "इन पशुओं के मारनेवालों को सब मनुष्यों की हत्या करनेवाला जानियेगा। देखो, जब आर्य्यों का राज्य था, तब ये महोपकारक गाय आदि पशु नहीं मारे जाते थे। तभी आर्य्यावर्त्त वा

अन्य भूगोल में मनुष्यादि प्राणी बड़े आनन्द से वर्तते थे। दूध, घी (आदि वस्तुओं) और बैल आदि पशुओं की अधिकता के कारण अन्न-रस पुष्कल प्राप्त होते थे। जब से गो आदि पशुओं को मारनेवाले मांसाहारी, मद्यप इस देश में आ कर राज्याधिकारी हुए हैं, तब से, क्रमशः. आर्य्यों के दुःखों की बढ़ती (ही) होती जाती है।"

श्रीमहाराज आर्य जाति की अधोगति का, उस के ऐश्वर्य के प्रपतन का वर्णन करते हुए बड़े मर्मभेदी वाक्यों में कारणों का निर्देश करते हैं। वे कहते हैं—"आर्य्यावर्त्त में विदेशियों का राज्य होने का कारण आपस की फूट है, मत-भेद है, ब्रह्मचर्य्य का नाश है, विद्या के पढ़ने-पढ़ाने का अभाव और बाल-काल में अस्वयंवर-विवाह है; मिथ्या-भाषण, विषयासक्ति आदि कुलक्षण और वेद-विद्या का प्रचार न होना आदि दुष्कर्म हैं।" "जब भाई से भाई लड़ने लग जाता है, तभी (तो) तीसरा विदेशी आ कर पंच बन बैठता है। क्या आप लोग महाभारत की वे बातें जो पाँच सहस्र वर्ष पहले हुई थीं, भूल गये? देखो, आपस ही की फूट से कौरवों-पाण्डवों और यादवों का सत्यानाश हो गया। सो तो हो गया, परन्तु अब तक भी वही रोग (आर्यों के) पीछे लगा हुआ है। न जाने यह भयङ्कर राक्षस कभी छूटेगा भी वा आर्य्यों को सब सुखों से छुड़ा कर दुःख-सागर में डुबा मारेगा। उसी गोत्र-हत्यारे, स्वदेश-विनाशक, नीच, दुष्ट दुर्योधन के अधम मार्ग में चल कर आर्य्य लोग अब तक भी दुःख बढ़ा रहे हैं। परमेश्वर

कृपा करे कि हम आर्यों से यह राजरोग नष्ट हो जाय।"

किसी जाति अथवा दल की गिरावट का कारण जितना आपस की फूट है, उतना ही आलस्य-प्रमाद भी है। जो जाति दुर्गुणों और दोषों की दलदल में एक बार फँस जाती है, फिर उस का सुधार सुगमता से नहीं होता। परमहंस दयानन्द जी आर्य्य जाति की अधोगति के कारण पर दृष्टिपात करते हुए कहते हैं—"स्वायंभुव राजा से पाण्डव पर्य्यन्त आर्य्यों का चक्रवर्त्ती राज्य बना रहा। तत्पश्चात् परस्पर के विरोध से (ये लोग) लड़ कर नष्ट हो गये। परमात्मा की इस सृष्टि में अभिमानी, अन्यायकारी, अविद्वान् जनों का राज्य बहुत दिनों तक नहीं चला करता। संसार की यह स्वाभाविक प्रवृत्ति है कि जब (लोगों के पास) प्रयोजन से बहुत अधिक धन हो जाता है, तब (उन में) आलस्य, प्रमाद, पुरुषार्थ-हीनता, ईर्ष्या, द्वेष और विषयासक्ति आदि (दुर्गुण) बढ़ जाते हैं।"

महर्षि दयानन्द जिस समय कमर कस कर कार्य-क्षेत्र में उतरे थे, समय भारतवर्ष में बड़ा भारी परिवर्तन दिखाई देता था। पश्चिमी विज्ञान का भूकम्प पूर्व की विचार-शिलाओं को बार बार कम्पायमान् कर रहा था। पादड़ियों की खण्डन-खड्ग और वचन-बाण-वर्षा ने उस समय के आर्य पुरोहितों को प्रायः परास्त कर रक्खा था। पश्चिमी सभ्यता की चमक-दमक ने भारत की लिखी-पढ़ी प्रजा की आँखों में चकाचौंध लगा दी थी। वेश में, विभूषण में, भाषा में और रहन-सहन में इतना परिवर्तन हो रहा था

कि मानों यहाँ के जातीय मन्दिर की प्रत्येक ईंट उखड़ जायगी। परायापन इतना आ गया था कि अपनेपन का नाम तक उड़ा चाहता था। दण्डी दयानन्द परिवर्तन के महा चंचल चक्र को रोकने के लिये इस के मार्ग में एक अति कड़ी रोक बन गये। उन्हों ने अपने ज्ञान से, बुद्धि-बल से और शुद्ध तर्क के प्रताप से पश्चिमी माया-जाल का परदा एकबारगी उठा दिया और भ्रम-भरी प्रजा को सनातन सत्य का बोध प्रदान किया।

श्रीस्वामी जी ने किसी भी जाति के बहिरंग के अनुकरण को अनुचित और आडम्बर सिद्ध करते हुए, उस समय, भारतीयों को यह भावपूर्ण उपदेश दिया था:—

"प्रश्न—देखो, यूरोपियन लोग मुंडे जूते और कोट-पतलून पहनते हैं, होटलों में सब के हाथ का खाते पीते हैं, इसी कारण अपनी बढ़ती करते जाते हैं।

"उत्तर—यह आप की भारी भूल है। देखो, मुसलमान और दूसरे लोग सब के हाथ का खाते हैं, फिर भी उनकी उन्नति क्यों नहीं होती? यूरोपियनों की उन्नति इस कारण हो रही है कि वे बाल्यावस्था में विवाह नहीं करते, पुत्र-पुत्रियों को विद्या और सुशिक्षा दिलाते हैं। उन में स्वयंवर विवाह होता है। वे जिस किसी के पाखण्ड में नहीं फँसते। जो कुछ करते हैं, परस्पर विचार कर करते हैं—सभा में निश्चित कर के करते हैं। अपनी जाति की उन्नति के लिये अपना तन-मन-धन तक लगा देते हैं। आलस्य को त्याग कर उद्योगी बने रहते हैं।

"देखिये, वे अपने देश के बने जूते को (तो) कार्यालय तथा कचहरी में जाने देते हैं, (परन्तु) इस देश के जूते को नहीं जाने देते। इतने ही में समझ लीजिये कि (वे) अपने देश के बने जूतों (तक) का जितना मान और जितनी प्रतिष्ठा करते हैं, अन्य देश के मनुष्यों का भी उतना (मान) नहीं करते। देखिये, युरोपियनों को इस देश में आये सौ से कुछ ऊपर वर्ष हुए हैं, पर आज तक वे लोग वैसे ही मोटे कपड़े आदि पहनते हैं जैसे अपने देश में पहनते थे। उन्हों ने अपने देश का चाल-चलन नहीं छोड़ा। परन्तु आप में से बहुत लोगों ने उन का अनुकरण कर लिया है। इसी से तो तुम निर्बुद्धि ठहरते हो और वे बुद्धिमान् सिद्ध होते हैं। ऐसा अनुकरण करना किसी बुद्धिमान् का काम नहीं।

" (उन में से) जो जिस काम पर रहता है, उस को यथोचित रीति से करता है। वे आज्ञानुवर्त्ती बराबर बने रहते हैं। अपने देशवासियों को व्यवहार आदि में सहायता देते हैं, इत्यादि गुणों और अच्छे कर्मों से उनकी उन्नति हो रही है। मुंडा जूता और कोट-पतलून पहनने तथा होटलों में खाने-पीने आदि साधारण और बुरे कर्म्मों से वे नहीं बढ़े हैं।"

स्वामी श्री दयानन्द जी अपने उपदेशों और वार्तालाप द्वारा भारतवासियों में सदा वे भाव भरा करते थे जिन से उन में मनुष्यत्व का मान बढ़े। वे भोले-भाले, भीरु और निस्तेज न बने रहें। महाराज के मन में मनुष्यत्व का मान कितना महान् था, इस का ज्ञान उनके इस उपदेश से होता है—"मनुष्य उसी जन को कहना

(चाहिए) जो मननशील हो कर अपनी तरह दूसरों के सुख-दुःख और हानि-लाभ को समझे। अन्याय-कारी बलवान से भी न डरे, और धर्मात्मा निर्बल का भी भय माने। इतना ही नहीं, किन्तु महात्मा जन चाहे महा अनाथ, निर्बल और निर्गुण क्यों न हो, अपने सारे सामर्थ्य से उन की रक्षा, उन्नति और प्रिय आचरण करे। अधर्म्मी (जन) चाहे चक्रवर्त्ती, सनाथ, महाबली और गुणवान भी हो तो उसका नाश, अनिष्ट और अवनति सदा करता रहे। जहाँ तक भी हो सके, अन्यायकारियों के बल की सर्वथा हानि किया करे और अपकारियों के बल को बढ़ाया करे। इस काम को करते हुए उस को चाहे कितना ही दारुण दुःख प्राप्त हो, उस के प्राण भी भले ही चले जायँ, परन्तु वह इस मनुष्यत्व रूप धर्म्म को कभी न छोड़े।"

महाराज के मत में दूसरे जनों को लाभ पहुँचाना मनुष्यत्व का चिह्न है। यही उपदेश वे इन वचनों में देते हैं—"सच तो यह है कि इस अनिश्चित, क्षण-भंगुर जीवन में पराई हानि कर के स्वयं लाभ से वंचित रहना और दूसरे को वंचित रखना मनुष्यत्व के विरुद्ध है।"

आगे दिये उपदेश में महाराज ने मनुष्यत्व के उज्ज्वल अंश का वर्णन किया है—"मनुष्य से भिन्न जातियों के जितने प्राणी हैं, उन में दो प्रकार का स्वभाव है। एक तो बलवानों से डरना, और दूसरे निर्बलों को डराना—उन को पीड़ा देना, यहाँ तक कि यदि उन के प्राण निकाल कर भी अपना स्वार्थ निकल सके तो

निकाल लेना। जिस किसी मनुष्य में भी ऐसा ही स्वभाव हो तो उसे भी उन्हीं जातियों के प्राणियों में गिनना चाहिए। परन्तु जो मनुष्य निर्बलों पर दया और उपकार करता है, उन को पीड़ा से बचाने के लिये तन-मन-धन तक अर्पण करने को सदा तैयार रहता है, और निर्बलों को सतानेवाले अधर्मी बलवानों से किंचिन्मात्र भी भय नहीं खाता, पाप-कर्म करने से काँपता है, तथा सत्य-कर्म करते निर्भय और निःशंक बना रहता है, वही मनुष्य धन्यवाद का पात्र है। यही मनुष्य-जाति का निज गुण है।"

तेरहवाँ विन्दु ।

सामाजिक सुधार ।

श्री स्वामी जी समाज-सुधारक भी थे। उन्हों ने समाज के सुधार में जितना प्रयत्न किया, उतना कदाचित् ही किसी दूसरे ने किया होगा। वे पहले पुरुष थे, जिन्हों ने पुष्टि के साथ स्त्रियों में अधिकार-पक्ष की घोषणा की, उन के लिये वेद-विद्या तक का द्वार खोल दिया और स्वयंवर-विवाह की शिक्षा दी।

शूद्र जनों के सुधार का सूत्र-संगठन करनेवाले भी श्री महाराज ही हैं। उन के वचनों में यह बात स्पष्ट मिलती है कि चारों वर्ण गुण-कर्मानुसार हैं। इनके बदल जाने पर वर्ण भी बदल जाता है। वर्ण जन्म से नहीं है, किन्तु गुण, कर्म और स्वभावानुसार हुआ करता है। वे आर्य और शूद्र शब्द का अर्थ जाति-परक नहीं किया करते थे, किन्तु वे मानते थे कि "श्रेष्ठों का नाम आर्य्य, विद्वान् और देव है। जो जन दुष्ट हैं, उन का नाम दस्यु—मूर्ख—है। आर्य्यों में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये चार भेद हैं। द्विजों विद्वानों—का नाम आर्य है और अनपढ़ों का नाम शूद्र—अनाड़ी—है।"

स्वामी जी महाराज छुआछूत के विचार को स्वीकार नहीं करते थे। वे सब मनुष्यों को स्पर्श करने योग्य समझते थे। किसी भी स्वच्छ और शुद्ध रहनेवाले आर्य जन के हाथ से अन्न-जल

का ग्रहण करना वे धर्म्म-विरुद्ध नहीं मानते थे। उनका इतना आग्रह तो अवश्य था कि हर एक के हाथ का बना खाने से अभक्ष्य-भक्षण का कुलक्षण लगने की सम्भावना रहती है। इस कारण इस का तो विचार करना ही चाहिए। भोजन के भेद का बखेड़ा जिस कारण से बढ़ गया है, उसका वर्णन वे यों करते हैं:- "जब से ईसाई मुसलमान आदिकों के मत-मतान्तर चले, उन्हों ने गो-मांसादि का खान-पान स्वीकार किया, आपस में वैर-विरोध बढ़ा, उसी समय से भोजनादि का (बड़ा) बखेड़ा (खड़ा) हो गया है।"

शूद्र के हाथ का बना अन्न खाने के विषय में उन का मत यह है—"रसोई शूद्र के हाथ की बनाई हुई ही खाय, क्योंकि ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य वर्णों के स्त्री पुरुष तो विद्या पढ़ाने, राज्य पालने, पशु-रक्षा और खेती बारी करने तथा व्यापार के काम में तत्पर रहते हैं। उन से भोजन बनाने का काम नहीं निभ सकता। हाँ, आपत्काल के बिना शूद्र के पात्र तथा घर का पका हुआ अन्न न खाय। आर्यों के घरों में जो शूद्र जन भोजन बनावें, वे वस्त्रादि से सर्वथा पवित्र रहें।"

जो जन आर्य नहीं हैं, उन के विषय में महाराज के ये वचन हैं—"हाँ, मुसलमान, ईसाई आदि मद्यमांसाहारियों के हाथ का खाने में आर्य्यों को भी खान-पान का उक्त अपराध पीछे लग पड़ता है। परन्तु आर्यों का आपस में एक भोज होने में कोई भी दोष दिखाई नहीं देता।"

"आर्यों में जो कोई भी शुद्ध रीति से (भोजन) बनावे तो सब आर्यों को साथ (मिल कर) खाने में तो कुछ भी दोष नहीं है। यदि ब्राह्मणादि वर्णों के स्त्री-पुरुष रसोई बनाने, चौका लगाने, बर्तन-भाँडे माँजने आदि के बखेड़े में पड़े रहें, तो विद्यादि शुभ गुणों की वृद्धि कभी भी न हो सके।"

देश में एकता लाने के लिये भोजन की एकता होना कोई आवश्यक नहीं है, इस विषय में श्री स्वामी जी ने एक युरोपियन के प्रश्न के उत्तर में कहा था कि एक ही जलाशय में अनेक जातियों के पशु मिल कर पानी पीते हैं, पर उन में एकता नहीं होती। एक ही ईसाई अथवा दूसरे धर्म्म के राजे सदा संग्राम की सज्जा में लगे रहते हैं। उन का इकट्ठे खाना-पीना उन के बैर-विरोध दूर नहीं कर सकता। एकता और उन्नति के सच्चे साधन कौन कौन हैं, इस विषयों में उन के वचन ये हैं—"जब तक एक मत, एक हानि-लाभ, एक सुख-दुःख न मानें तब तक उन्नति का होना बहुत ही कठिन है। परन्तु जब तक (लोग) बुरी बातें नहीं छोड़ते, अच्छी बातें ग्रहण नहीं करते, तब तक केवल खान-पान एक हो जाने से सुधार नहीं हो सकता, किन्तु बढ़ती के स्थान (उलटी) हानि ही होती है।"

श्री स्वामी जी अभक्ष्य के भक्षण को दोष मानते थे। अभक्ष्य भोजन का साधारण लक्षण उन्हों ने यह किया है—"हिंसा कर के, चोरी से, विश्वासघात से, छल-कपट आदि से जितने पदार्थों को प्राप्त कर के उन का भोगोपभोग करना है, वह सब अभक्ष्य है।

हिंसादि कर्मों से पदार्थ एकत्र करना और उन से भोजनादि करना भी अभक्ष्य है। जितने पदार्थ अपनी प्रकृति से विरुद्ध हैं, विकार करनेवाले हैं (वे अभक्ष्य हैं) उन का त्याग करना चाहिए। और जो जिस के लिये विधान किये गये हैं, उन पदार्थों का ग्रहण करना भक्ष्य है।"

महाराज के मत में सहभोज का अथवा भोजन की स्वतंत्रता का यह अर्थ नहीं है कि जहाँ जी में आवे, भोजन कर लिया जाय, स्थान की शुद्धि का कोई विचार न हो; और यह भी नहीं कि चौके-बर्तन ही के आडम्बर में धर्म्म-कर्म की इतिश्री कर दी जाय। इस विषय में श्री उपदेश यह है—"भोजन बनाने का स्थान प्रति दिन गोबर से, मिट्टी से, झाड़ू आदि दे कर शुद्ध रखना चाहिए। यदि पक्का स्थान हो तो जल से धो डालना उचित है। लेपनादि से रसोई के स्थान को स्वच्छ रखना आवश्यक है। जो स्थान अच्छा रमणीय दिखाई दे, वहीं भोजन करना चाहिए।"

छुआछूत और विदेश-गमन पर वे कहते हैं—"इसी मूढ़ता से इन लोगों ने चौका लगाते, और विरोध करते कराते अपनी स्वतंत्रता पर, अपने आनन्द पर, धन पर, राज्य पर, विद्या और पुरुषार्थ पर चौका लगा दिया है और अब हाथ पर हाथ रक्खे बैठे हैं। इच्छा तो करते हैं कि कुछ मिले तो जीवन-यात्रा चलावें, परन्तु ऐसा न होने से जानो (उन्हों ने) सारे भारत पर चौका लगा कर (इस को) सर्वथा नष्ट कर दिया है।"

श्री महाराज की सम्मति में देश-देशान्तर की यात्रा करना

कोई धर्म्म-विरुद्ध कार्य नहीं है। कला-कौशल आदि सीखने के लिये देशान्तर में जाना तो चाहिए ही, परन्तु यात्री इतना पक्का अवश्य हो कि अपने जातीय जीवन को और धर्म्म-कर्म को बट्टा न लगने दे। इस सम्बन्ध में उनका यह उपदेश है—"(यात्री) यह भी समझ ले कि धर्म्म हमारी आत्मा और कर्तव्य के साथ है। जब हम अच्छे काम करते हैं, तब हमें देश-देशान्तर और द्वीप द्वीपान्तर में जाने से कुछ भी दोष नहीं लग सकता। जो जन बाहर-भीतर की पवित्रता रखता है, सत्य भाषणादि आचरण करता है, तो वह जहाँ कहीं भी रहेगा, आचार और धर्म्म-भ्रष्ट कभी न होगा।"

स्वामी जी के समय में वंग प्रान्त और बम्बई में दो एक समाज थे, जो सुधार का काम करते थे। परन्तु उन समाजों के सभासद आर्यों के पुरातन तत्व से विमुख थे और उस का तिरस्कार करते थे। वे पश्चिमी ज्ञान-विज्ञान, भाव-भाषा और खान-पान तक का उतावली से अनुकरण कर रहे थे। उन को अपने पुरुषाओं के नाम-धाम से एक प्रकार की घृणा सी हो गई थी। वे अपनी सनातन कुल-रीतियों को, अपने पुराने संस्कारों को और अपने धर्म्म-कर्म को छोड़ते चले जाते थे। ऐसे ही दल को लक्ष्य कर के श्री महाराज ने यह उपदेश दिया है—"इन लोगों में स्वदेश-भक्ति बहुत कम है। इन्हों ने बहुत से आचरण ईसाइयों के ले लिये है। खान-पान और विवाह आदि के नियम भी बदल दिये हैं। अपने देश की प्रशंसा और अपने पूर्वजों की बड़ाई करनी तो दूर रही, उलटे उन की पेट भर कर निन्दा करते हैं। व्याख्यानों में ईसाई

आदि अँगरेजों की प्रशंसा के पुल बाँध देते हैं, पर महर्षियों का नाम तक नहीं लेते। अपितु यह कहते हैं कि संसार में आज तक अँगरेजों के ऐसा विद्वान् कोई भी नहीं हुआ है। आर्य्यावर्त्तीय लोग तो सदा से मूर्ख ही चले आये हैं। इन की उन्नति कभी नहीं हुई।"

महाराज को इधर तो सुधार के विरोधी महन्त-मण्डल से युक्तियुक्त मल्ल-युद्ध करना पड़ता था और उधर अतिकारी, अतिक्रमण-कर्त्ता, पश्चिम-प्रेमी सुधारक समूह के साथ धर्म्म-सगत संग्राम लड़ना होता था। इस अवस्था में परमहंस जी का कार्यक्षेत्र कितना कंटकाकीर्ण था, कितना विषम था, यह बात सुगमता से समझ में आ सकती है। वे जातीय जीवनांश से विमुख जनों को यह उपदेश देते थे—"आपने इसी देश का अन्न-जल ग्रहण किया है, अब भी करते हो, तो फिर अपने माता-पिता और पितामहादि के मार्ग को छोड़ कर दूसरे विदेशी मतों पर झुक जाना······आप लोगों का अच्छा काम नहीं है। इन्हों ने यही समझ रक्खा होगा कि खाने-पीने और जाति-भेद भंग करने ही से हम और हमारा देश सुधर जायगा; परन्तु ऐसी बातों से सुधार तो कहाँ, उलटे बिगाड़ ही होता है।"

धार्मिक दृष्टि से अतिकारी दल को उपदेश देते हुए महाराज कहते हैं—"जब सर्व सत्य वेदों से प्राप्त होता है, तो उन के स्वीकार में संकोच करना अपनी और पराई हानि-मात्र कर लेना है। इसी कारण से तो आर्य्यावर्त्त के लोग आप को अपना नहीं मानते,

और आप भी भारत की उन्नति के कारक नहीं बन सके। जिस देश को रोग हो रहा है, उस की औषधि आप के पास नहीं है। उधर यूरोपियन आप की कोई परवाह नहीं करते; इधर भारतवर्ष के लोग आप को अन्य-मतियों के जान समझते हैं। अब भी विचारपूर्वक यदि वेदादि को मान कर देशोन्नति करने लग जाओ तो बड़ी अच्छी बात है।"

"विद्या के चिह्न जनेऊ और शिखा को उतार कर मुसलमान और ईसाइयों के समान बन बैठना, आप की यह चेष्टा व्यर्थ है। जब पतलून आदि धारण करते हो, तमगों की इच्छा रखते हो, तो क्या यज्ञोपवीत आदि ही का कुछ अधिक भार है? ब्रह्मादि पिछले विद्वानों की प्रशंसा न कर के यूरोपियनों की स्तुति में उतर पड़ना, यह आपका पक्षपात और चापलूसी नहीं तो और क्या कहा जाय? उन्नति करना चाहो तो आर्य समाज के साथ मिल कर उस के उद्देशानुसार कार्य करना स्वीकार कीजिये, नहीं तो कुछ भी हाथ नहीं लगेगा। आप और हम को यही उचित है कि जिस देश के पदार्थों से हमारा शरीर बना है और अब भी पालन-पोषण पाता है, मारे प्रेम से मिल कर तन-मन-धन से उसकी उन्नति करें।"

महाराज की सम्मति में देवासुर कोई लोकान्तर में योनियाँ नहीं हैं। इसी लोक में श्रेष्ठ जनों और दुष्ट जनों के ये दो भेद हैं। "जो मनुष्य स्वार्थी हैं, प्राणों ही को पुष्ट करनेवाले हैं, छल-कपट आदि दोषों से युक्त हैं, वे असुर हैं। और जो जन

परोपकारी हैं, पर-दुःखनाशक हैं तथा धर्मात्मा हैं, वे देव कहे जाते हैं।"

श्रीस्वामी जी ने धर्म्म और समाज के सुधार में असार वस्तु को तो अवश्य निकाला है, परन्तु सार अंश का तिरस्कार कहीं भी नहीं किया। वे महाभारत आदि ग्रन्थों के सार-संग्रह का यों उपदेश दे गये हैं—"इसी प्रकार सभा कर राज्य का प्रबन्ध, आर्य्यों में, श्रीमन्महाराजा युधिष्ठिर पर्य्यन्त बराबर चलता रहा, इस की साक्षी महाभारत के राजधर्म्म आदि ग्रन्थों (प्रकरणों) तथा मनु-स्मृति अन्य धर्म्म-शास्त्रों में मिलती है। इन ग्रन्थों में जो कुछ प्रक्षिप्त है, उस को त्याग कर शेष सब अच्छा है, क्योंकि वह वेदानुकूल है।"

श्रीस्वामी जी भारत के श्रीकृष्णादि महापुरुषों को ईश्वरावतार तो स्वीकार नहीं करते, परन्तु उन को महात्मा और महापुरुष अवश्यमेव मानते थे। वे लिखते हैं कि महाभारत में ऐसी कोई भी बात नहीं मिलती जिस से सिद्ध हो कि श्रीकृष्ण ने जन्म से मरण पर्य्यन्त कोई भी पापाचरण किया था। एक दूसरे स्थान में उन्हों ने श्रीकृष्ण जी के साथ महाधार्मिक और महात्मा ये दो विशेषण लगाये हैं।

———

चौदहवाँ विन्दु ।

गो-रक्षा ।

श्री दयानन्द जी ही पहले महापुरुष थे, जिन्हों ने गोमाता को बचाने के लिये एक संगठित सभा स्थापित की। इस के पहले भारत में कोई भी ऐसी सभा न थी। इस सभा का नाम उन्हों ने रक्खा था 'गोकृष्यादि रक्षिणी सभा'। कृषि शब्द को साथ मिला कर महाराज ने धर्म्म के साथ उपयोगिता का भी संयोग कर दिया और इसका आर्थिक रूप भी बन गया। उन की इस उदार नीति से मुसलमान, ईसाई और पारसी आदि सभी सज्जन सन्तुष्ट थे। गो-वध करने में वे उनका साथ देने को तैयार थे। महाराज के जीवन के अन्तिम वर्षों में यह सभा स्थापित हुई थी। उस का काम बड़े उत्साह के साथ हो रहा था। यदि विधाता के विधान में दयानन्द का जीवन एक वर्ष और बना रहता तो गो-हत्या सर्वथा बन्द हो जाती।

श्रीमहाराज स्वयं गो-रक्षा को धर्म्म का एक अङ्ग मानते थे। उन का यह भाव इन शब्दों से प्रकट होता है—"जब सब को लाभ और सुख ही में प्रसन्नता है, तो बिना अपराध किसी प्राणी के प्राण अपहरण कर के अपना पोषण करना सत्पुरुषों के सामने निन्दित कर्म क्यों न समझा जाय? सर्वशक्तिमान् जगदीश्वर इस सृष्टि के मनुष्यों की आत्माओं में अपनी दया और न्याय का प्रकाश

करे जिस से सभी दयावान् और न्यायशील बन कर सर्वोपकारक काम करें। स्वार्थ और पक्षपात को छोड़ कर कृपापात्र गौ आदि पशुओं का विनाश न करें, जिस से दूध की प्राप्ति और खेती आदि कामों की सिद्धि से सारे मनुष्य आनन्द में रहें।"

गोचर-भूमियों के बन्द हो जाने पर वे लिखते हैं—"कोई गाय आदि पशु (यदि) सरकारी जङ्गल में जा कर घास पात खावे तो उस की और उस के स्वामी की दुर्दशा होती है। जङ्गल में आग लग जावे तो चिन्ता नहीं, किन्तु पशु न खाने पावें।...... ध्यान दे कर सुनिये, जैसा दुःख-सुख अपने आप को होता है, वैसा ही दूसरों को भी समझा कीजिये। यह भी ध्यान में रखिये कि पशुओं से और खेती-बारी आदि का काम करनेवाले मनुष्यों के अधिक पुरुषार्थ ही से राजा का ऐश्वर्य बहुत बढ़ता है। इस के विपरीत करने से वह नष्ट हो जाता है।" "प्रजा से राजा इस लिये कर लेता है कि उन की यथावत् रक्षा करेगा, न इस लिये कि प्रजा के सुखकारक गाय आदि पशुओं का नाश किया जाय। आज तक तो जो हो गया सो हो गया, परन्तु आगे को आँखें खोलिये। हानिकारक कर्मों को न कीजिये और न किसी को करने ही दीजिये।"

वे फिर कहते हैं—"स्वार्थी लोग तो दूसरों को हानि पहुँचा कर अपना प्रयोजन सिद्ध करते हैं। परन्तु सज्जन लोगो, आप इन अनाथ पशुओं की रक्षा तन-मन-धन से क्यों नहीं करते हो? धन्य है भारत के आर्य जनों को, जिन्हों ने, ईश्वर के नियमानु-

सार, परोपकार ही में तन-मन-धन लगाया और अब भी लगाते हैं। परोपकार के कारण ही आर्य राजे, महाराजे, धनी जन आर्धी भूमि में जङ्गल रक्खा करते थे, जिस से पशुओं की पूरी रक्षा होती और पुष्कल दूध मिला करता। सुनो बन्धुवर्ग, यदि आप का तन-मन-धन गाय आदि उपकारक पशुओं की रक्षा में न लगे, तो ये किस काम के हैं? देखो, परमात्मा ने विश्व में सारे पदार्थ परोपकार ही के लिये रच रक्खे हैं। आप भी इसी पुण्य कार्य में, परोपकार में, अपना सर्वस्व प्रदान कर दीजिये।"

श्रीदयानन्द जी उपयोगिता के सिद्धान्त से भी गोरक्षण सिद्ध किया करते थे। इस विषय में उन की युक्तियाँ आगे दी जाती हैं—"कोई गाय दो सेर दूध देती है और कोई बीस सेर। यदि औसत ग्यारह सेर दूध की रख ली जाय तो एक मास में एक गाय का दूध सवा आठ मन होता है। कोई गाय छः मास दूध देती है और कोई अठारह मास। दूध देने की औसत बारह मास नियत कर लीजिये। बारह मास का यह दूध निन्नानवे मन होता है। एक मनुष्य की तृप्ति के लिये दो सेर दूध की खीर पर्याप्त हुआ करती है। इस प्रकार एक गाय के एक वर्ष भर के दूध से एक बार पच्चीस सहस्र सात सौ चालीस मनुष्य तृप्त होते हैं। यदि उस की पीढ़ियों का विचार किया जाय तो एक गाय से अगणित जनों का पालन होता है।"

श्रीपरमहंस जी एक दूसरे प्रकार से भी इस की उपयोगिता सिद्ध करते हैं। वे कहते हैं—"दो ही पदार्थों से मनुष्य के प्राणों

की रक्षा, जीवन, सुख, बल, विद्या और पुरुषार्थ की वृद्धि होती है। एक तो अन्न-जल से और दूसरे आच्छादन से। पहले के अभाव से प्राण-नाश हो जाता है, और दूसरे के न होने पर अनेक दुःख भोगने पड़ते हैं। देखिये, गौ आदि पशु सूखा घास-पात खाय मनुष्यों के प्राण-धारण करने का साधन, अन्न-पान—दूध—प्रदान करते हैं। बैल गाड़ी और हल को खींच कर अनेक प्रकार का अन्न उत्पन्न कर देते हैं, जिस से मनुष्यों का पालन होता है, और वे बल, बुद्धि तथा शक्ति-सम्पन्न हो जाते हैं। गौ आदि पशु कितने कोमल हैं कि मनुष्यों के साथ सन्तान और मित्रों की भाँति विश्वास रखते और प्रेम करते हैं। उन्हें जहाँ बाँधो, वहीं बँधे रहेंगे। जिधर चलाओ, उसी ओर चलेंगे। जहाँ से हटाओ, हट जायँगे और देखने और पुचकारने पर पास चले आवेंगे।"

"ये जीते जी तो मनुष्य की रक्षा करते ही हैं, परन्तु मरने पर भी उन का चमड़ा काँटों और कंकड़ों आदि से मनुष्य के पाँव को बचाता है। इन का जीवन और मरण सब कुछ मनुष्यों की रक्षा ही के लिये है। ऐसे शुभ गुणयुक्त पशुओं का हनन कर के जो जन अपना पेट भरते हैं, वे सारे संसार का अपकार करते हैं। इसी कारण से आर्य लोग ब्रह्मा से ले कर आज तक पशु-हिंसा में पाप और अधर्म्म समझते आये हैं।"

"गौ आदि पशुओं की रक्षा करने से अन्न महँगा नहीं होने पाता। देश में दूध-दही अधिक हो तो निर्धन को भी सुगमता

से मिल जाता है जिस से अधिक अन्न नहीं खाया जा सकता। इस से अनेक रोग भी नष्ट हो जाते हैं।"

गोकृष्यादि रक्षिणी सभा स्थापित कर के श्री स्वामी जी ने गो-रक्षा पर ही अधिक ध्यान दिया था। वैसे तो वे दूसरे पशुओं की रक्षा के लिये अनुकम्पा का प्रबल भाव रखते थे, परन्तु उन का वचन है—"वर्त्तमान में परोपकारक गो की रक्षा में मुख्य तात्पर्य्य है।"

(लार्ड रिपन) महोदय के शासन-काल में श्री स्वामी जी इस यत्न में थे कि भारत की जनता के हस्ताक्षर करा कर इंग्लैंड में भेजे जायँ और गो-हत्या सर्वथा बंद करा दी जाय। हस्ताक्षर करने-वालों में ईसाई, मुसलमान और पारसी आदि भी सम्मिलित थे। उस हस्ताक्षर-पत्र के साथ महाराज का जो व्याख्यान छपा था, उस का कुछ भाग यहाँ दिया जाता है—"ओम्। जगत् में ऐसा कौन मनुष्य है जो सुख-प्राप्ति में प्रसन्न और दुःख-प्राप्ति में दुःखित न होता हो? जैसे अपने ऊपर कोई उपकार करे तो आनन्द होता है, ऐसे ही दूसरों का उपकार करने पर आनन्दित होना चाहिए। क्या भूगोल भर में कभी कोई मनुष्य ऐसा था, अब है, अथवा आगे को होगा जो परोपकार-रूप धर्म्म पर-हानि-रूप अधर्म के बिना धर्म्माधर्म्म का कोई अन्य स्वरूप सिद्ध कर सके?

"वे महाशय जन धन्य हैं जो अपने तन-मन-धन से संसार का अधिक उपकार साधित करते हैं। वे लोग निन्दनीय हैं जो अपनी अज्ञानता से स्वार्थवश हो कर अपने तन-मन और धन से

जग में पर-हानि कर के बड़े लाभ का नाश करते हैं। अल्प लाभ के कारण महाहानि कर बैठना सृष्टि-क्रम के प्रतिकूल है।

"विश्व भर में दो ही पदार्थ जीवन का मूल हैं—एक अन्न और दूसरा पान। मनुष्य को खान-पान पुष्कल प्राप्त हो, इस अभिप्राय से आर्य्यावर्त्त के राजे-महाराजे और प्रजा के जन गाय आदि महोपकारक पशुओं का न तो आप वध करते और न ही किसी दूसरे को करने देते थे। अब तक भी वे गाय और भैंस का हनन नहीं होने देते। इन की रक्षा से अन्न-पान की बहुत ही वृद्धि होती है, जिस से सर्व साधारण का सुख-पूर्वक निर्वाह हो सकता है। राजा-प्रजा की जितनी हानि इन की हत्या से होती है, उतनी किसी भी दूसरे कर्म से नहीं हो सकती।"

पन्द्रहवाँ विन्दु ।

मोक्ष-धर्म्म ।

प्रत्येक के अन्तःकरण का साक्षी—जीवात्मा—अविद्या के कारण बद्ध हो कर जन्म-जन्मान्तरों में दुःख भोगता और क्लेश पाता है। जन्म और मरण के भयङ्कर चक्कर से छूट कर ब्रह्मानन्द की उपलब्धि ही का नाम मोक्ष है। जीव के स्वरूप में न तो अज्ञान है और न बंध ही। यह स्वभाव में विमल है, चेतन-स्वरूप है। बंध एक उपाधि-मात्र है, जो परब्रह्म के जानने से छूट सकती है।

स्वामी श्री दयानन्द जी आत्मा के स्वरूप के विषय में यों उपदेश दिया करते थे:—"जीवात्मा का ज्ञान दो प्रकार का है—एक तो स्वाभाविक और दूसरा नैमित्तिक। जैसे पानी में शीतलता तो स्वाभाविक है और उष्णता अग्नि के संयोग से आती है, इस लिये यह नैमित्तिक है। ऐसे "मैं हूँ" अर्थात् अपने होने का ज्ञान जीवात्मा में स्वाभाविक है। परन्तु जो ज्ञान आँख, आदि इन्द्रियों से ग्रहण किया जाता है, वह नैमित्तिक है। जीवात्मा को नैमित्तिक ज्ञान, देश, काल और वस्तु के भेद से, तीन प्रकार का होता है। इन्द्रियों का संयोग जैसे देश के साथ हुआ, जैसे काल में हुआ और जैसी वस्तु से हुआ, वैसा ही नैमित्तिक ज्ञान उत्पन्न होता जाता है। उस उस देश, काल और वस्तु का संयोग न रहने पर

वह नैमित्तिक ज्ञान भी नष्ट हो जाता है।" "पर स्वाभाविक ज्ञान सदा एकरस बना रहता है।"

आत्मा और परमात्मा के भेद तथा स्वभाव के सम्बन्ध में श्री महाराज ने कहा है:—"ईश्वर ब्रह्म को कहते हैं और ब्रह्म से भिन्न अनादि, अनुत्पन्न तथा अमृत-स्वरूप जीव का नाम जीव है। आत्मा और ये दोनों चेतन स्वरूप हैं। दोनों का स्वभाव पवित्र है, अविनाशी है और धार्मिकता आदि है।" "जीवन अल्प है और परमेश्वर महान् है।"

परमहंस श्रीदयानन्द जी मानते थे कि अजर, अमर, अविनाशी जीवात्मा कर्म करने और न करने में स्वतंत्र है। यदि यह परतंत्र हो तो पाप-पुण्य का भागी भी नहीं हो सकता। "परमेश्वर की प्रेरणा और अधीनता ही से, यदि जीवात्मा शुभाशुभ कर्म करे तो उसके किये पाप-पुण्य का फल भी उसके प्रेरक, परमात्मा, ही को भोगना पड़े। जैसे कोई जन किसी दूसरे जन को रास्ते में मार डाले तो पकड़े जाने पर शस्त्र चलानेवाले ही को दण्ड मिलता है, न कि शस्त्र को।"

कर्मों के भी अनेक भेद हैं। कई एक कर्म बंध का साधन बन जाते हैं और कई एक मोक्ष दिलानेवाले होते हैं। मनसा, वाचा, कर्मणा जितने अशुभ कर्म किये जाते हैं, वे सब दुःख का कारण होते हैं। मन, वचन और काया से जो शुभ कर्म किये जाते हैं, उन के दो भेद हैं—एक सकाम कर्म और दूसरा निष्काम कर्म। जो भी धर्मयुक्त कर्म सांसारिक सुख-भोग की इच्छा से किये जाते हैं, वे

सकाम कर्म कहलाते हैं। इन कर्मों से जीव इन्द्रियों के सुखों को पा कर जन्म-मरण के फंदे में फँसा रहता है, उससे छूट नहीं सकता। इनका फल नाशमान होता है। जो धर्म्ममय कर्म केवल परमेश्वर ही की प्राप्ति के लिये विधिपूर्वक किये जाते हैं—सांसारिक वासनाओं के लिये नहीं किये जाते हैं—वे निष्काम कर्म होते है। क्योंकि ये कर्म संसार के भोगों की लालसा को त्याग कर किये जाते हैं, इस कारण इन का फल भी अक्षय है।

मोक्ष की प्राप्ति के साधनों में एक ऋषि-कर्म भी है जिस का उपदेश श्रीस्वामी जी यों करते हैं—"सम्पूर्ण विद्या को प्राप्त कर के दूसरे जनों को ज्ञान-दान प्रदान करना ऋषि-कर्म है। मनुष्य पर जितना भी ऋषि जनों का परोपकार आदि ऋण है, उसकी निवृत्ति इसी कर्म से और उनकी सेवा से होती है। प्रति दिन जो ज्ञान का दान देना और लेना है तथा गुरुजनों की सेवा-शुश्रूषा करना है, वही ऋषि-कर्म एक दूसरे को आनन्द-दायक सिद्ध होता है। यह ऋषि-कर्म-रूप ज्ञान वह देव-यान है जिसे पा कर मनुष्य फिर कभी दु:ख में नहीं गिरता; और यह कर्म पितृवर्ग की कृपा से प्राप्त हुआ करता है।"

वेद ही सारे धर्म्मों का सार वर्णन करता है। मनुष्य की आत्मोन्नति के लिये वेद ने तीन काण्ड वर्णन किये हैं। वे ज्ञान, कर्म और उपासना हैं। उपासना-काण्ड का अनुशीलन केवल मोक्ष्यर्थ किया जाता है। श्री दयानन्द जी ने उपासना का जो उपदेश दिया है, उसका बहुत कुछ उल्लेख तो भक्ति-धर्म में हो चुका है; और जो

कुछ शेष है, उसका वर्णन इस विन्दु में किया जाता है। महाराज कहते हैं—"ईश्वर की प्रार्थना करना उसके अनुग्रह को मानना है। मनुष्य के माता-पिता उसे जो कुछ भी देते हैं, वे ईश्वर के बनाये हुए पदार्थों में से ही देते हैं; परन्तु उनका कितना अनुग्रह माना जाता है, यह सभी जानते हैं। यह जिस ईश्वर के प्रदान किये सुखदायक पदार्थ भोगते हैं, क्या उस का अनुग्रह नहीं मानना चाहिए? उसकी अपार कृपाओं का स्मरण करने से, उस के प्रति कृतज्ञता प्रकट करने से और परम प्रभु का आभार मानने से मनुष्य का मन आप ही आप प्रसन्न और प्रशान्त रहने लगता है। परमेश्वर की शरण लेने से मन निर्मल होता है। प्रार्थना करने से मनुष्य को पापों से पश्चात्ताप हो आता है। आगे को पाप-कर्म की ओर उसका झुकाव नहीं रहता। उस में सत्य और प्रेम ये दो गुण सुदृढ़ हो जाते हैं।'

"ईश्वर की स्तुति से—उसके गुणानुवाद से—उस में अपनी प्रीति बढ़ती है। ज्यों ज्यों परमेश्वर के गुणों का ज्ञान होता है, त्यों त्यों प्रेम अधिकाधिक होता जाता है। परमात्मा की उपासना से तो आत्मा में आनन्द का विकास हुआ करता है। उससे ही पापों का नाश होता है। इसके अतिरिक्त पाप-नाश का मार्ग दूसरा नहीं है।"

पाप-वासना के नाश का वेदाशय महाराज ने इन शब्दों में प्रकट किया है—"जो जो पाप मैंने जानते हुए या अजानपन में किये हों, उनसे छुड़ानेवाला, इस संसार में, हे प्रभु! आप के

बिना दूसरा कोई भी नहीं है। हमारे अविद्या आदि सब पाप छुड़ा कर हमें शीघ्र शुद्ध कीजिये। आप की इच्छा से हमारा सारा पाप नष्ट हो जाय, जिससे हम निष्पाप हो कर आप की भक्ति मे और आज्ञा-पालन में तत्पर रहें।"

जो जन पाप-पाश से पार नहीं पा गये, जिन्होंने अपने आप को संयम में स्थिर नहीं किया और जिन का मन मैला है, वे आत्म-ज्ञान लाभ नहीं कर सकते। इस आशय को प्रकट करनेवाले महाराज के वाक्य ये हैं:—"जो मनुष्य धर्मात्मा नहीं हैं, अविद्वान हैं, विचार-शून्य हैं, अजितेन्द्रिय और ईश्वरभक्ति-रहित है, उन दोषी मनुष्यों से ईश्वर बहुत दूर है। वे कोटि कोटि वर्ष तक उसे नहीं पा सकते। ऐसे मनुष्य तब तक जन्म-मरणादि के दुःख-सागर में भटकते रहते हैं, जब तक उसको नहीं जानते।"

श्री दयानन्द जी पाप-पुण्य के प्रश्न को इतना पेचीला नहीं बनाते थे कि जिस का समझना भी असम्भव हो जाय, और पालन करना तो सृष्टि की स्वाभाविक स्थिति से सर्वथा विरुद्ध जान पड़े। उन्हों ने मतवादियों के उत्तर में कहा है कि—"यद्यपि दया और क्षमा अच्छे भाव हैं, तथापि पक्षपात में फँसने से दया अदया और क्षमा अक्षमा हो जाती है। किसी जीव को भी दुःख न देना, यह बात सर्वथा सम्भव नहीं हो सकती। क्योंकि यदि दुष्टों को दण्ड न दिया जाय, तो सहस्रों मनुष्य दुःखी हो जायँ। दुष्ट पर वह दया अदया और क्षमा अक्षमा बन जाय। यह तो ठीक है कि सब प्राणियों के दुःख के नाश का और सुख की प्राप्ति

का उपाय करना दया कही जाती है। किसी को पीड़ा दिये बिना किसी जीव का किंचित् भी निर्वाह नहीं हो सकता।"

जो लोग तालाब और सरोवर बनवाने में तथा कूप आदि के लगवाने में छोटे छोटे जन्तुओं की हिंसा मानते हैं, उन को श्री स्वामी जी ने यह उत्तर दिया है:—"यदि माली को पाप लगता है तो अनेक जीव पत्रों, पुष्पों, फूलों, फलों और छाया से आनन्द पाते हैं, इस से करोड़ों गुणा पुण्य भी तो होता है। ये लोग इस पर कुछ भी ध्यान नहीं देते, यह कितना अंधेर है। सब जीवों पर सर्वथा दया करना भी दुःख का कारण हुआ करता है। यदि आप के मतानुयायी सभी जन हो जायँ और चोरों तथा डाकुओं को कुछ भी दण्ड न दिया जाय तो कितना बड़ा पाप खड़ा हो जाय? इस लिये दुष्टों को यथायोग्य दण्ड देने में और श्रेष्ठों का पालन करने में दया है; और इस से उलटे चलें, तो दया-क्षमा रूप धर्म्म का नाश ही है।"

स्वामीजी महाराज क्षत्रिय-कर्म का भी आदर करते थे। वे इस आत्म-त्याग के लिये कर्त्तव्य को धर्म ही मानते थे। क्षत्रिय-धर्म के लिये उनके समादर-सूचक वचन ये हैं:—"जो राजा लोग संग्राम में एक दूसरे को हनन करने की इच्छा से बिना डर, बिना पीठ फेरे, अपने सारे सामर्थ्य से युद्ध करते हैं, वे सुख को प्राप्त होते हैं। इस कर्त्तव्य से उनको कभी विमुख नहीं होना चाहिए। शत्रु को जीतने के लिये उसके सामने से छिप जाना (भी) उचित है। क्योंकि जिस प्रकार से भी शत्रु पराजित हो, वैसा ही काम करना चाहिए। जैसे सिंह क्रोध से सामने आकर शस्त्रा-

ग्नि में शीघ्र ही भस्म हो जाता है, वैसे (क्षत्रिय) मूर्खपन से नष्ट भ्रष्ट न होवे।" "राजा, इस प्रकार सब व्यवहारों को रीति-भाँति से करता हुआ सब पापों से छूट कर परम गति-मोक्ष-को लाभ करता है।"

महाराज बल के बढ़ाने और शक्ति सम्पादन करने के लिये सदा उपदेश दिया करते थे। जैसे, "सर्वदा शरीर और आत्मा के बल को बढ़ाते रहना चाहिए।"

मोक्ष-मार्ग में महाराज तप किन साधनों को मानते थे, इस का पता उनके इन वाक्यों से लगता है:—"शुद्ध भाव रखना तप है। सत्य मानना, सत्य बोलना, सत्य कर्म करना और मन को अधर्म मार्ग में न जाने देना तप है। बाह्य इन्द्रियों को अन्याय के कर्म करने से रोकना, शरीर से, इन्द्रियों से, मन से शुभ कर्मों का आचरण करना भी तप ही है। वेदादि सच्चे शास्त्रों का पढ़ना-पढ़ाना, वेदानुसार आचरण रखना और अन्य धर्मयुक्त कर्म को तप ही कहा जाता है।"

जिससे मनुष्य पाप-ताप से पार पा जायँ, संसार-सागर को तर सकें, उसे तीर्थ कहा जाता है। मोक्ष-धर्म में ऐसे तीर्थ का वर्णन श्रीस्वामीजी इस प्रकार करते हैं—"वेदादि सत्य शास्त्रों का पठन-पाठन पुण्य-रूप तीर्थ है। विद्वानों—सन्तों का सत्संग और परोपकार-कर्म तीर्थ समझना चाहिए। धर्मानुष्ठान और योगाभ्यास भी तीर्थ गिना जाता है। निर्वैर रहना, निष्कपट होना, सत्य भाषण करना, सच्ची बात मानना, सच्चे कर्म करना और ब्रह्मचर्य का सेवन सच्चा तीर्थ है। आचार्य की, अतिथि की,

माता-पिता की सेवा करना तीर्थ-रूप कर्म है। परमेश्वर की स्तुति, प्रार्थना, उपासनादि आध्यात्मिक साधन तीर्थ हैं। शान्ति धारण करना, जितेन्द्रिय और सुशील बनना, पुरुषार्थ-परायण रहना, और जो ज्ञान-विज्ञान आदि शुभ गुण तथा कर्म हैं, दुःखों से तारनेवाले होने से, वे सब तीर्थ हैं।"

जिस संसार से छुटकारा पाने के लिये मुमुक्षुजन यत्न किया करते हैं, महाराज के मत में वह सर्वथा दुःखरूप नहीं है। वे कहते हैं:—"यदि संसार दुःखरूप होता तो इसमें किसी प्राणी की प्रवृत्ति न होती। परन्तु प्राणियों की प्रवृत्ति तो इस में प्रत्यक्ष-रूप से दीखती है; इस कारण सारा संसार दुःख-रूप नहीं हो सकता। वास्तव में, इस में सुख और दुःख दोनों हैं।"

मोक्ष-मार्ग के यात्रियों को जब तक परमात्म-देव का प्रत्यक्ष दर्शन न हो, तब तक वे बन्धन से स्वतंत्र नहीं होते। उस परमात्मा का परम प्रत्यक्ष तो पूर्ण ज्ञानियों ही को होता है। परन्तु श्रीवचनों के अनुसार, विश्वासियों को भी सदैव प्रत्यक्ष बना रहता है। उन्होंने कहा है:—"इस सृष्टि में परमात्मा की रचना-विशेष के चिह्न को देख कर परमात्मा का प्रत्यक्ष होता है। पापाचरण की इच्छा के समय मन में जो शङ्का, लज्जा और भय आदि के भाव उत्पन्न होते हैं, वे अन्तर्यामी परमात्मा की ओर से होते हैं। इसमें भी परमात्मा के प्रत्यक्ष होने की सिद्धि होती है।"

श्रीस्वामीजी मोक्ष के साधनों का वर्णन करते हुए यों उपदेश देते हैं:—"धर्मयुक्त सत्य-भाषणादि शुभ कर्म करना और मिथ्या-

भाषणादि अशुभ कर्मों का परित्याग कर देना मुक्ति का साधन है। परमात्म देव की भक्ति से उसकी ओर खिंच जाना मुक्ति का उपाय है। उपासक जन प्रभु के परमानन्द में ऐसा जुड़ जाय कि उसके हर्ष शोक नष्ट हो जायँ, और वह परमानन्द को प्राप्त कर ले।"

"परब्रह्म सर्वत्र परिपूर्ण है। सब में एक रस भर रहा है। वही परमपद स्वरूप परमात्मा परम धाम है। उसी की प्राप्ति से जीवात्मा सारे दुःखों से छूट जाता है। नहीं तो उसके बिना, जीव के लिये, परम सुख का स्थान दूसरा नहीं है।"

कई एक ज्ञानियों का मत है कि मोक्षावस्था में जीवात्मा का लय हो जाता है। उसका अस्तित्व मात्र भी नहीं रहता, वह ब्रह्म ही बन जाता है, इत्यादि। परन्तु श्रीस्वामीजी मोक्षावस्था में ब्रह्म के साथ जीवात्मा की एकता लाक्षणिक मानते थे, तद्धर्मतापत्ति वर्णन किया करते थे। इस विषय के उनके वचन ये हैं-"जो जीवात्मा परमेश्वर के गुण, कर्म और स्वभाव के अनुकूल अपने गुण, कर्म, स्वभाव बना लेता है, वही साधर्म्य से, ब्रह्म के साथ एकता कर सकता है।"

मोक्षावस्था का विशेष रूप से वर्णन करते हुए उन्होंने कहा है-"जीवात्मा के सत्य संकल्पादि स्वाभाविक गुण और सामर्थ्य सब बने रहते हैं; परन्तु भौतिक-प्राकृतिक—सम्बन्ध नहीं रहता। मोक्ष में भौतिक शरीर और इन्द्रियों के गोलक जीवात्मा के साथ नहीं रहते, किन्तु उसके अपने स्वाभाविक शुद्ध गुण बने रहते हैं।"

इति।

साहित्य-सदन, जालन्धर नगर।

इस सदन ने उपयोगी विषयों पर उत्तमोत्तम पुस्तकें प्रकाशित करने का निश्चय किया है। ऐसी छोटी छोटी पुस्तकें तैयार की जा रही हैं जिनसे गृहस्थों और बालकों को सचमुच लाभ पहुँचेगा और वे अनुभव करेंगे कि हमारे ज्ञान में वृद्धि हुई है। पुस्तकों को सब प्रकार से सुन्दर बनाने का यत्न किया जायगा। बाल—बच्चेवाले गृहस्थों तथा अध्यापक-अध्यापिकाओं को हमारी पुस्तकें अवश्य पढ़नी चाहिएँ। आठ आना "प्रवेश फी" देकर स्थायी ग्राहक बननेवालों को प्रत्येक पुस्तक पौने मूल्य में दी जायगी।

इसका पहला ग्रन्थ, **"बालक"** प्रकाशित हुआ है। जो माता-पिता और अध्यापक अपने बालकों को नीरोग, सच्चरित्र, दृढ़—सङ्कल्प, अच्छे नागरिक, देशभक्त तथा धर्म्मात्मा और अपने घरों की सुसन्तान से स्वर्गधाम बनाना चाहते हैं, उन्हें इस पुस्तक का पाठ अवश्य करना चाहिए। इसमें लेखक ने अपने निजी अनुभव के अतिरिक्त अनेक उत्तमोत्तम अँगरेज़ी और देशी ग्रन्थों का भी निचोड़ दे दिया है। नैतिक नियमों को उदाहरणों से स्पष्ट किया गया है। इसके लेखक अलबेरुनी का भारत, इत्सिङ्ग की भारत यात्रा, गुरुदत्त लेखावली, एकाग्रता और दिव्यशक्ति आदि पुस्तकों के लेखक लाला सन्तराम जी बी०ए० हैं। मूल्य १) कपड़े की सुन्दर जिल्द का १॥)

२. **दयानन्द-वचनामृत**—इसके लेखक हैं पूज्यपाद स्वामी श्रीसत्यानन्द जी महाराज। कोई एक सौ पृष्ठ की इस छोटी सी पुस्तक में श्रद्धेय स्वामी जी ने ऋषि दयानन्द की सारी शिक्षा का सार भर दिया है। प्रार्थना, उपासना, देशभक्ति, राजनीति, गोरक्षा, शिक्षा इत्यादि विषयों पर ऋषि के

जो विचार उनके भिन्न भिन्न ग्रन्थों में बिखरे पड़े हैं, उनको स्वामीजी ने इस पुस्तिका में एकत्र कर दिया है। जिन लोगों ने श्रीस्वामी जी का लिखा हुआ श्रीमद्दयानन्द-प्रकाश पढ़ा है, उन्हें तो इसे अवश्य लेना चाहिए। इसकी भाषा उससे बहुत सरल रक्खी गई है। पुस्तक में ऋषि दयानन्द का एक बहुत बढ़िया सुन्दर रंगीन चित्र भी दिया गया है। आवरण-पत्र पर एक हाफटोन चित्र है। यह ऋषि का असली फोटो है और बड़े परिश्रम से एक भक्त से प्राप्त किया गया है। ऋषि का ऐसा सुन्दर चित्र आज तक पहले कहीं प्रकाशित नहीं हुआ। मूल्य ॥=)

३. **क्रियात्मक योग**—अमेरिका की एक योगविद्या-विशारद देवी ने योगशास्त्र की व्याख्या लिखी है। इसमें उन्होंने योग की जटिल क्रियाओं को बहुत ही सरल और स्पष्ट कर दिया है। उनकी पुस्तकों का पश्चिम में बड़ा आदर है। अध्यात्म विद्या के प्रेमियों के लिये हमने इसका भाषानुवाद तैयार कराया है। इसके साथ "फ्रांस का जादू" और "परकाया-प्रवेश" पर दो अध्याय और भी जोड़ दिये हैं। पुस्तक बड़ी रोचक और उपयोगी है। छपने पर पृष्ठ-संख्या लगभग एक सौ के हो जायगी।

मिलने का पता—

व्यवस्थापक, साहित्य-सदन,

मोहनलाल रोड, लाहौर।